बिखरे-मोती

द्वितीया वृत्ति

लेखिका
सुभद्रा कुमारी चौहान

मूल्य १।)

स्मृति-चिन्ह

जिनकी आशा-अभिलाषा हैं चूर-चूर होकर सोती।
उनके ही दृग-जल से धुलकर निखरे यह "बिखरे-मोती" ॥

समर्पण
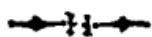
श्री० ठाकुर राजबहादुर सिंह जी,

बी० ए०, एल-एल० बी०

भैया,

मेरी यह कृति, तुम्हारी ही मधुर कृपा और सरल स्नेह का स्वरूप है; अतएव तुम्हें छोड़कर इसे किसके हाथों में दूँ ?

तुम्हारी बहन

सुभद्रा

विषय-सूची

१—भग्नावशेष १
२—होली १०
३—पापी पेट १६
४—मँझली रानी २८
५—परिवर्तन ५५
६—दृष्टिकोण ६९
७—कदम्ब के फूल ८९
८—किस्मत ९४
९—मछुए की वेटी १०४
१०—एकादशी ११७
११—आहुति १२८
१२—थाती १४५
१३—अमराई १५५
१४—अनुरोध १६२
१५—ग्रामीणा १६९

भूमिका

एक बार एक नये कहानी लेखक ने जिनकी एक-दो कहानियाँ प्रकाशित हो चुकी थीं, मुझसे बड़े इतमीनान के साथ कहा—"मैं पहले समझता था कि कहानी लिखना बड़ा कठिन है, परन्तु अब मुझे मालूम हुआ कि यह तो बड़ा सरल है। अब तो मैं नित्य एक कहानी लिख सकता हूँ।" उनकी यह धारणा, मुझे लिखते हुए कुछ दुःख होता है, बहुत शीघ्र ही बदल गई।

नया कहानी लेखक समझता है कि केवल कथानक (प्लाट) रच देने से ही कहानी बन जाती है। भाषा, भाव, चरित्र-चित्रण इत्यादि से उसे कोई सरोकार नहीं रहता। यदि व्याकरण के हिसाब से भाषा ठीक है तो वह सर्वोत्तम भाषा है, कहानी में भाव अपने आप आ ही जाते हैं—कोई भी लेखक उनका आना रोक नहीं सकता, और चरित्र-चित्रण के लिए बदमाश, पाजी, धूर्त्त, सज्जन, दयावान् इत्यादि शब्द मौजूद ही हैं—इन्हीं में से कोई एक शब्द लिख देने से चरित्र-चित्रण से भी सरलता पूर्वक

छुट्टी मिल जाती है। परन्तु दो-चार कहानियाँ लिखने के पश्चात् उसकी गाड़ी सबसे पहले उसी मार्ग पर अटकती है जिसे वह सबसे सरल समझ रहा था—अर्थात् प्लाट। जिन दो-चार प्लाटों के बल पर उसने अपने लिए कहानी लेखन विषय निश्चित किया था जब वे समाप्त हो जाते हैं तब उसे प्लाट ढूँढे नहीं मिलता। उस समय उसे पता लगता है कि कहानी-लेखन उतना सरल नहीं है जितना उसने समझ रक्खा था। परन्तु एक भ्रम दूर होते ही दूसरा भ्रम पैदा हो जाता है। कहानी-लेखन बड़ा सरल है—यह भ्रम तो दूर हो गया, परन्तु उसके साथ ही यह भ्रम आ घुसा कि अभ्यस्त लेखक या तो प्लाट कहीं से चुराते हैं या फिर उनके कान में ईश्वर प्लाट फूंक जाता है। पहले तो नया लेखक इस बात की प्रतीक्षा करता है कि कदाचित् उसके कान में भी ईश्वर प्लाट फूँक जायगा, परन्तु जब उसे इस ओर से निराशा होती है तब वह दूसरी युक्ति ग्रहण करता है। अन्य भाषा के पत्रों से प्लाट चुरा कर उसे तोड़-मरोड़ कर कहानी तैयार कर दी। बहुत से तो हिन्दी में ही निकली हुई कहानियों का रूप बदलकर उन पर अपना अधिकार जमा लेते हैं।

नया लेखक यह बात नहीं समझ सकता कि अभ्यस्त लेखक प्लाट गढ़ते हैं, उनकी रचना करते

हैं। हाँ, केवल विषय और भाव ऐसी चीज़ें हैं जिन्हें कोई भी लेखक अपनी बपौती नहीं कह सकता और किसी लेखक को उन्हें गढ़ने का कष्ट नहीं उठाना पड़ता। "सच बोलना बहुत अच्छा है—मनुष्य को सदा सच बोलना चाहिए।" इस विषय पर न जाने कितने प्लाट गढ़े जा चुके हैं और न जाने अभी कितने गढ़े जा सकते हैं। प्रेम, घृणा, सज्जनता, दयालुता, परोपकार इत्यादि विषयों पर हज़ारों प्लाट बन चुके हैं और अभी हज़ारों बन सकते हैं। परन्तु वे सब प्लाट अच्छे नहीं हो सकते। प्लाट वही अच्छा होगा जिसमें कुछ चमत्कार होगा, कुछ नवीनता होगी। जिसमें प्रतिपादित विषय पर किसी ऐसे नये पहलू से प्रकाश डाला जाय जिससे कि वह विषय अधिक आकर्षक, अधिक मनोरम तथा अधिक प्रभावोत्पादक हो जाय। लेखक की प्रतिभा तथा लेखक की कला इसी पहलू को ढूँढ़ निकालने पर निर्भर है।

अब रहा चरित्र-चित्रण सो उसमें भी प्रतिभाशाली लेखक नवीनता तथा अनोखापन ला सकता है। नित्य जो चरित्र देखने को मिलते हैं उन चरित्रों से भिन्न कोई ऐसा अनोखा चरित्र उत्पन्न करना जिसे देखकर विज्ञ पाठक फड़क उठे—उनके हृदय में यह बात पैदा हो कि

मनुष्य-चरित्र के संबंध में इन्हें कोई नई बात मालूम हुई यही चरित्र-चित्रण की कला है।

खेद है कि अधिकांश नये लेखकों में उपर्युक्त कला का अभाव मिलता है। इसका मुख्य कारण यही है कि वे न तो इसका ज्ञान प्राप्त करने के लिए यथेष्ट अध्ययन ही करते हैं और न शिक्षा ही ग्रहण करते हैं। परिणाम यह होता है कि उनको सफलता नहीं मिलती और वे बरसाती कीड़ों की भाँति थोड़े दिनों तक इस क्षेत्र में फुदक कर सदैव के लिए विलीन हो जाते हैं।

इस संग्रह की लेखिका श्रीमती सुभद्राकुमारी चौहान से हिन्दी-संसार भली भाँति परिचित है। इनकी भावमयी कविताओं का रसास्वादन हिन्दी-जगत बहुत दिनों से कर रहा है। परन्तु कहानी-क्षेत्र में इन्हें, इस संग्रह द्वारा, कदाचित् पहले ही पहल देखेगा। परन्तु उसे हताश नहीं होना पड़ेगा; क्योंकि श्रीमती जी की कहानियों में कला है। प्लाट्स में कुछ न कुछ अनोखापन है और चरित्रों में भी कुछ विचित्रता है। उदाहरणार्थ 'ग्रामीणा' कहानी का प्लाट साधारण है परन्तु उसमें "सोना" के अनोखे चरित्र ने जान डाल दी है। सोना एक ऐसी कन्या है, जो देहात के खुले वायु-मण्डल में, पली है। उसका

बाल्यकाल स्वतंत्रता की गोद में बीता है। नगर के प्रपंचों से वह अनभिज्ञ है। दुर्भाग्य से उसका विवाह शहर में होता है। वह नगर में आकर भी अपने उसी स्वतंत्रतापूर्ण देहाती स्वभाव के कारण पर्दे का अधिक ध्यान नहीं रखती। इसका परिणाम यह होता है कि उसके संबंध में लोगों में ऐसी ग़लत-फहमी फैलती है जो अन्त में उस बेचारी के प्राण ही लेकर छोड़ती है। सोना सुन्दर है, पवित्र है, निष्कपट है, निष्कलंक है, परन्तु फिर भी उसे आत्म-हत्या करने की आवश्यकता पड़ती है। क्यों ? इसलिए कि उसका स्वभाव तथा रहन-सहन शहर में रहने वालों से मेल नहीं खाता। वह अपने स्वतंत्रता-प्रिय स्वभाव को शहर वालों के अनुकूल नहीं बना सकी—यही इस चरित्र में अनोखापन है।

—इसी प्रकार श्रीमती जी की प्रत्येक कहानी में पाठक कुछ न कुछ विचित्रता, नवीनता तथा अनोखापन पायेंगे। कहानियों की भाषा बहुत सरल बोलचाल की भाषा है। इस संबंध में केवल इतना ही कहना यथेष्ट होगा कि एक विख्यात बहुभाषा-विज्ञ का कथन है कि—"यदि किसी देश की भाषा सीखना चाहते हो तो उसे स्त्रियों से सीखो।"

श्रीमती जी की कहानियों में उनके कवि-हृदय की झलक भी कहीं-कहीं स्पष्ट देखने को मिल जाती है, जिसके कारण कहानियों का सौन्दर्य और अधिक बढ़ गया है।

मुझे पूर्ण आशा है कि हिन्दी-संसार इन कहानियों का आदर करके श्रीमती जी का उत्साह बढ़ायेगा। क्योंकि हिन्दी-साहित्य भविष्य में भी श्रीमती जी की रचनाओं से गौरवान्वित होने की आशा रखता है।

बंगाली-मोहाल
कानपुर
१८ सितम्बर १९३२ } विश्वम्भरनाथ शर्म्मा 'कौशिक'

विनीत निवेदन

मैं ये "बिखरे मोती" आज पाठकों के सामने उपस्थित करती हूँ; ये सब एक ही सीप से नहीं निकले हैं। रूढ़ियों और सामाजिक बन्धनों की शिलाओं पर अनेक निरपराध आत्माएँ प्रतिदिन ही चूर-चूर हो रही हैं। उनके हृदय-बिन्दु जहाँ-तहाँ मोतियों के समान बिखरे पड़े हैं। मैंने तो उन्हें केवल बटोरने का ही प्रयत्न किया है। मेरे इस प्रयत्न में कला का लोभ है और अन्याय के प्रति क्षोभ भी। सभी मानवों के हृदय एक-से हैं। वे पीड़ा से दुःखित, अत्याचार से रुष्ट और करुणा से द्रवित होते हैं। दुःख रोष, और करुणा, किसके हृदय में नहीं हैं? इसीलिए ये कहानियाँ मेरी न होने पर भी मेरी हैं, आपकी न होने पर भी आपकी और किसी विशेष की न होने पर भी सबकी हैं। समाज और गृहस्थी के भीतर जो घात-प्रतिघात निरंतर होते रहते हैं उनकी यह प्रतिध्वनियाँ मात्र हैं; उन्हें आपने सुना होगा। मैंने कोई नई बात नहीं लिखी है; केवल उन प्रतिध्वनियों को अपने भावुक हृदय

की तंत्री के साथ मिलाकर ताल स्वर में बैठाने का ही प्रयत्न किया है।

हृदय के टूटने पर आंसू निकलते हैं, जैसे सीप के फूटने पर मोती। हृदय जानता है कि उसने स्वयं पिघलकर उन आंसुओं को ढाला है। अतः वे सच्चे हैं। किन्तु उनका मूल्य तो कोई प्रेमी ही बतला सकता है। उसी प्रकार सीप केवल इतना जानती है कि उसका मोती खरा है; वह नहीं जानती कि वह मूल्यहीन है अथवा बहुमूल्य। उसका मूल्य तो रत्नपारिखी ही बता सकता है। अतएव इन 'बिखरे मोतियों' का मूल्य कलाविद् पाठकों के ही निर्णय पर निर्भर है।

मुझे किसी के सामने इन्हें उपस्थित करने में संकोच ही होता था परन्तु श्रद्धेय श्री० पदुमलाल पुन्नालाल जी बख्शी के आग्रह और प्रेरणा ने मुझे प्रोत्साहन देकर इन्हें प्रकाशित करा ही दिया, जिसके लिए हृदय से तो मैं उनका आभार मानती हूँ किन्तु साथ ही डरती भी हूँ कि कहीं मेरा यह प्रयत्न हास्यास्पद ही न सिद्ध हो।

जबलपुर
श्रीकृष्ण जन्माष्टमी
संवत १९८९

सुभद्राकुमारी चौहान

भग्नावशेष

था, परंतु स्टेशन पर खाने-पीने की सामग्री ठीक न मिलती थी; इसलिए मुझे शहर जाना पड़ा। बाज़ार में पहुँचते ही मैंने देखा कि जगह-जगह पर बड़े-बड़े पोस्टर्स चिपके हुए थे जिनमें एक वृहत् कवि-सम्मेलन की सूचना थी, और कुछ ख़ास-ख़ास कवियों के नाम भी दिए हुए थे। मेरे लिए तो कवि-सम्मेलन का ही आकर्षण पर्याप्त था, कवियों की नामावलि को देखकर मेरी उत्कंठा और भी अधिक बढ़ गई।

[२]

दूसरी ट्रेन से जाने का निश्चय कर, जब मैं सम्मेलन के स्थान पर पहुँचा तो उस समय कविता पाठ प्रारम्भ हो चुका था; और उर्दू के एक शायर अपनी जोशीली कविता मजलिस के सामने पेश कर रहे थे। 'दाद' भी इतने ज़ोरों से दी जा रही थी कि कविता का सुनना ही कठिन हो गया था। ख़ैर, मैं भी एक तरफ़ चुपचाप बैठ गया, परन्तु चेष्टा करने पर भी आँखें स्थिर न रहती थीं; किसी की खोज में वे बार-बार विह्वल-सी हो उठती थीं। कई कवियों ने अपनी-अपनी सुन्दर रचनाएँ सुनाईं। सब के बाद एक श्रीमती जी भी धीरे-धीरे मंच की ओर अग्रसर

होती दीख पड़ीं। उनकी चाल-ढाल तथा रूप-रेखा से ही असीम लज्जा एवं संकोच का यथेष्ट परिचय मिल रहा था। किसी प्रकार उन्होंने भी अपनी कविता शुरू की। अक्षर-अक्षर में इतनी वेदना भरी थी कि श्रोतागण मंत्र-मुग्ध-से होकर उस कविता को सुन रहे थे। वाह-वाह और खूब-खूब की तो बात ही क्या, लोगों ने जैसे सांस लेना तक बन्द कर दिया था; मेरा रोम-रोम उस कविता का स्वागत करने के लिए उत्सुक हो रहा था।

एक बार इस मूर्त्तिमती प्रतिभा का परिचय प्राप्त किए बिना उस नगर से चले जाना अब मेरे लिये असम्भव-सा हो गया। अतः इस निश्चय के अनुसार मैंने अपना जाना फिर कुछ समय के लिए टाल दिया।

[३]

उनका पता लगा कर, दूसरे ही दिन, लगभग आठ बजे सबेरे मैं उनके निवास-स्थान पर जा पहुँचा और अपना 'विज़िटिंग कार्ड' भिजवा दिया। कार्ड पाते ही एक अधेड़ सज्जन बाहर आए, और मैंने उनसे उत्सुकता से पूछा "क्या श्रीमती......जी घर पर हैं?"

"जी हाँ। आइए बैठिए"।

आदर प्रदर्शित करते हुए मैंने कहा—"कल के सम्मेलन में उनकी कविता मुझे बहुत पसन्द आई; क्या एक साहित्य-प्रेमी के नाते मैं उनसे मिल सकता हूँ?"

एक कुर्सी पर बैठालते हुए वह बोले—"वह मेरी लड़की है, मैं अभी उसे बुलवाये देता हूँ।"

उन्होंने तुरन्त नौकर से भीतर सूचना भेजी और उसके कुछ ही क्षण बाद वे बाहर आती हुई दीख पड़ीं।

परिचय के पश्चात् बड़ी देर तक अनेक साहित्यिक विषयों पर उनसे बड़ी ही रुचिकर बातें होती रहीं। चलने का प्रस्ताव करते ही, उन्होंने संध्या-समय भोजन के लिए निमंत्रण दे डाला। इसे अस्वीकृत करना भी मेरी शक्ति के बाहर था। अतः दिन भर वहीं उनके साथ रहने का सुअवसर प्राप्त हुआ। और इन थोड़े-से घंटों में ही उनकी असाधारण प्रतिभा देखकर मैं चकित हो गया। अब तक का मेरा आकर्षण सहसा भक्तियुक्त आदर में परिणत हो गया। भोजन के उपरान्त मुझे अपनी यात्रा प्रारंभ करनी ही पड़ी। परन्तु मार्ग भर मैं कुछ

ऐसा अनुभव करता रहा जैसे कहीं मेरी कोई वस्तु छूट-सी गई है।

[४]

घर लौट कर मैंने उन्हें दो-एक पत्र लिखे, पर उत्तर एक का भी न मिला। विवश था; चुप ही रहना पड़ा; किन्तु उनकी कविताओं की खोज निरन्तर ही किया करता था।

इधर कई महीनों से उनकी कविता भी देखने को नहीं मिली। न जाने क्यों, एक अज्ञात आशङ्का रह-रह कर मुझे भयभीत बनाने लगी। अन्त में एक दिन उनसे मिलने की ठान कर, घर से चल ही तो पड़ा। चलने के साथ ही बाईं आँख फड़की, और बिल्ली रास्ता काट गई। इन अपशकुनों ने मेरी अनिश्चित आशंका को जैसे किसी भावी अमंगल का निश्चित रूप-सा दे दिया। वहाँ पहुँच कर देखा, मकान में ताला पड़ा है। हृदय धक से हो गया। पता लगाने पर ज्ञात हुआ कि कई महीने हुए उनके पिता का देहान्त हो गया है; उनके मामा आकर उन्हें अपने साथ लिवा ले गये। बहुत खोज करने पर भी मैं उनके मामा के घर का पता न पा सका। इस

प्रकार वे, एक हवा के झोंके की तरह, मेरे जीवन में आईं और चली भी गईं; मैं उनके विषय में कुछ भी न जान सका।

[५]

दस वर्ष बाद—

एक दिन फिर मैं कहीं सफर में जा रहा था। बीच में एक बड़े जंक्शन पर गाड़ी बदलती थी। वहाँ पर दो लाइनों के लिये ट्रेन बदलती थी। मैं अपने कम्पार्टमेन्ट से उतरा, ठीक मेरे पास के ही, पर थर्ड-क्लास के एक डिब्बे से एक स्त्री उतरी। उसका चेहरा सुन्दर, पर मुरझाया हुआ था; आँखें बड़ी-बड़ी, किन्तु दृष्टि बड़ी ही कातर थी। कपड़े साधारण और कुछ मैले-से थे। गोद में एक साल-भर का बच्चा था, आस-पास और भी दो-तीन बच्चे थे। मैंने ध्यान से देखा यह वे ही थीं। मैं झपटकर उनके पास गया। अचानक मुँह से निकल गया "आप! यहाँ इस वेश में!!"

उन्होंने मेरी तरफ देखा, उनके मुँह से एक हल्की-सी चीख निकल गई, बोलीं—"क्या! आप हैं?"

मैंने कहा, "हां, हूं तो मैं ही, पर आपने कविता लिखना क्यों छोड़ दिया ?"

अब उनके संयम का बाँध टूट गया। उनकी आँखों से न जाने कितने बड़े-बड़े मोती बिखर गये। उन्होंने रुंधे हुए कंठ से कहा, "लिखने पढ़ने की बाबत अब आप मुझसे कुछ न पूछें।"

इतने ही में एक तरफ से एक अधेड़ पुरुष आए। और आते ही शायद, उनके पास का मेरा खड़ा रहना उन सज्जन को न सुहाया; इसीलिए उन्हें बहुत बुरी तरह से झिड़क कर बोले —"यहाँ खड़ी-खड़ी बातें कर रही हो; कुछ खयाल भी है ?"

वे बोलीं—"ये मेरे पिता जी के........" वह अपना वाक्य पूरा भी न कर पाईं थीं कि वे महापुरुष कड़क उठे—"चलो भी; परिचय फिर हो लेगा।"

उन्होंने मेरी तरफ एक बड़ी ही वेधक दृष्टि से देखा; उस दृष्टि में न जाने कितनी करुणा, कितनी विवशता, और कितनी कातरता भरी थी। वे अपने पति के पीछे-पीछे चली गईं ।

सेटफार्म पर खड़ा मैं सोचता हूँ कि ये वही हैं या उनका भग्नावशेष !

होली

[१]

"कल होली है।"

"होगी।"

"क्या तुम न मनाओगी?"

"नहीं।"

"नहीं?"

"न।"

"क्यों?"

"क्या बताऊँ क्यों?"

"आखिर कुछ सुनूँ भी तो।"

"सुनकर क्या करोगे ?"

"जो करते बनेगा।"

"तुमसे कुछ भी न बनेगा।"

"तो भी।"

"तो भी क्या कहूँ ? क्या तुम नहीं जानते होली या कोई भी त्यौहार वही मनाता है जो सुखी है। जिसके जीवन में किसी प्रकार का सुख नहीं, वह त्यौहार भला किस बिरते पर मनावे ?"

"तो क्या तुमसे होली खेलने न आऊँ ?"

"क्या करोगे आकर ?"

सकरुण दृष्टि से करुणा की ओर देखते हुए नरेश साइकिल उठा, घर चल दिया। करुणा अपने घर के काम-काज में लग गई।

[२]

नरेश के जाने के आध घंटे बाद ही करुणा के पति जगत प्रसाद ने घर में प्रवेश किया। उनकी आँखें लाल थीं। मुँह से शराब की तेज़ बू आ रही थी। जलती हुई

सिगरेट को एक ओर फेंकते हुए, वे कुरसी खींच कर बैठ गये। भय-भीत हरिणी की तरह पति की ओर देखते हुए करुणा ने पूछा—"दो दिन तक घर नहीं आए, क्या कुछ तबियत खराब थी? यदि न आया करो तो खबर तो भिजवा दिया करो। मैं प्रतीक्षा में ही बैठी रहती हूँ।"

उन्होंने करुणा की बातों पर कुछ भी ध्यान न दिया। जेब से रुपये निकाल कर मेज़ पर ढेर लगाते हुए बोले, —"पंडितानी जी की तरह रोज ही सीख दिया करती हो कि जुआ न खेलो, शराब न पियो; यह न करो, वह न करो। यदि मैं जुआ न खेलता तो आज मुझे इतने रुपये, इकट्ठे कहाँ से मिल जाते? देखो, पूरे पन्द्रह सौ हैं। लो, इन्हें उठाकर रखो, पर मुझ से बिना पूछे इसमें से एक पाई भी खर्च न करना, समझीं!!"

करुणा जुए में जीते हुए रुपयों को मिट्टी समझती थी। गरीबी से दिन काटना उसे स्वीकार था; परन्तु चरित्र को भ्रष्ट करके धनवान बनना उसे प्रिय न था। वह जगत प्रसाद से बहुत डरती थी, इसलिए अपने स्वतंत्र विचार वह कभी भी प्रकट न कर सकती थी। उसे इसका अनुभव कई बार हो चुका था। अपने स्वतंत्र

विचार प्रकट करने के लिए उसे कितना अपमान, कितनी लांच्छना और कितना तिरस्कार सहना पड़ा था! यही कारण था कि आज भी वह अपने विचारों को अन्दर-ही-अन्दर दवा कर दवी हुई जवान से बोली—"रुपया उठाकर तुम्हीं न रख दो? मेरे हाथ तो आटे में भिड़े हैं।" करुणा के इस उत्तर से जगत प्रसाद क्रोध से तिलमिला उठे और कड़ी आवाज से पूछा—

"क्या कहा?"

करुणा कुछ न बोली; नीची नजर किए हुए आटा सानती रही। इस चुप्पी से जगत प्रसाद का पारा ११० पर पहुँच गया। क्रोध के आवेश में रुपये उठा कर उन्होंने फिर जेब में रख लिये—"यह तो मैं जानता ही था कि तुम यही करोगी। मैं तो समझा था इन दो-तीन दिनों में तुम्हारा दिमाग़ ठिकाने आगया होगा। ऊट-पटांग बातें भूल गई होगी और कुछ अकल आगई होगी; परन्तु सोचना व्यर्थ था। तुम्हें अपनी विद्वत्ता का घमंड है तो मुझे भी कुछ है। लो, जाता हूँ; अब रहना सुख से"—कहते-कहते जगत प्रसाद कमरे से वाहर निकलने लगे।

पीछे से दौड़कर करुणा ने उनके कोट का सिरा पकड़

लिया और विनीत स्वर में बोली— "रोटी तो खालो! मैं रुपये रखे लेती हूँ। क्यों नाराज़ होते हो?" एक ज़ोर के झटके के साथ कोट को छुड़ाकर जगत प्रसाद चल दिये। झटका लगने से करुणा पत्थर पर गिर पड़ी और सिर फट गया। खून की धारा वह चली, सारी और जाकेट लाल हो गई।

२

संध्या का समय था। पास ही बाबू भगवती प्रसाद जी के सामने वाली चौक से सुरीली आवाज़ आ रही थी।

"होली कैसे मनाऊँ?

"सैंया विदेश, मैं द्वारे ठाढ़ी, कर मल-मल पछताऊँ।"

होली के दीवाने भंग के नशे में चूर थे। गानेवाली नर्तकी पर रुपयों की बौछार हो रही थी। जगत प्रसाद को अपनी दुखिया पत्नी का ख़याल भी न था। रुपया बरसाने वालों में उन्हीं का सब से पहिला नम्बर था। इधर करुणा भूखी-प्यासी, छटपटाती हुई चारपाई पर करवटें बदल रही थी।

× × ×

"भाभी, दरवाजा खोलो" किसी ने बाहर से आवाज दी। करुणा ने कष्ट के साथ उठकर दरवाजा खोल दिया। देखा तो सामने रंग की पिचकारी लिए हुए नरेश खड़ा था। हाथ से पिचकारी छूट-कर गिर पड़ी। उसने साश्चर्य पूछा—

"भाभी, यह क्या ?"

करुणा की आँखें छलछला आईं; उसने रुँधे हुए कंठ से कहा—

"यही तो मेरी होली है, भैया।"

पापी पेट

[१]

आज सभा में लाठीचार्ज हुआ। प्राय: ५००० निहत्थे और शान्त मनुष्यों पर पुलिस के पचास जवान लोहबन्द लाठियाँ लिये हुए टूट पड़े। लोग अपनी जान बचाकर भागे; पर भागते-भागते भी प्राय: पाँच सौ आदमियों को सख्त चोटें आई और तीन तो बेहोश होकर सभा-स्थल में ही गिर पड़े। तीन-चार प्रमुख व्यक्ति गिरफ्तार करके जेल भेज दिए गए।

पुलिस ने झंडे के विशाल खम्भे को काटकर गिरा दिया और आग लगा दी। तिरंगा झंडा फाड़ कर पैरों

तले रौंद डाला गया। सब के हृदय में सरकार की सत्ता का आतंक छा गया।

प्रकट रूप से विजय पुलिस की ही हुई। उनके सामने सभी लोग भागते हुए नज़र आए। और यदि किसी ने अपनी जगह पर खड़े रहने का साहस दिखलाया तो वह लाठियों की मार से धराशायी कर दिया गया। परन्तु इस विजय के होते हुए भी उनके चेहरों पर विजय का उल्लास नहीं था, प्रत्युत ग्लानि ही छाई थी। उनकी चाल में आनन्द का हल्कापन न था, वरन ऐसा मालूम होता था कि-जैसे पैर मन-मन भर के हो रहे हों। हृदय उछल नहीं रहा था, वरन एक प्रकार से दबा-सा जा रहा था।

पुलिस लाइन में पहुंच कर सिपाही लाठीचार्ज की चर्चा करने लगे। सभी को लाठीचार्ज करने, निहत्थे, निरपराध व्यक्तियों पर हाथ चलाने का अफ़सोस हो रहा था। सिपाही राम खिलावन ने अपनी कोठरी में जाकर अन्दर से दरवाज़ा लगा लिया और लाठी चूल्हे में जला दी। उसकी लाठी के वार से एक सुकमार बालक की खोपड़ी फट गई थी। उसने मन में कहा, बिचारे निहत्थे और निरपराधों को कुत्तों की तरह लाठी से मारना! राम,

राम, यह हत्या ! किसके लिए? पेट के लिए? इस पापी पेट को तो जानवर भी भर लेते हैं। फिर हम आदमी होकर इतना पाप क्यों करें? इस बीस रुपट्टी के लिए यह कसाईपन? न, अब तो यह न हो सकेगा। जिस परमात्मा ने पेट दिया है वह अन्न भी देगा। लानत है ऐसी नौकरी पर; और दूसरे दिन नौकरी से इस्तीफा देकर वह अपने देश को चला गया।

[२]

थानेदार बरक़तउल्ला लाठी चार्ज के समय चिल्ला-चिल्लाकर हुक्म दे रहे थे "मारो सालों को" 'आए हैं स्वराज लेने', 'लगे खूब कस-कसके'। परन्तु अपने क्वार्टर्स में पहुँचते-पहुँचते उनका जोश ठंडा पड़ गया। वे ज़बान के ख़राब अवश्य थे, पर हृदय के उतने ख़राब न थे। दर-वाज़े के अन्दर पैर रखते ही उनकी बीबी ने कहा—देखो तो यह गफ़ूर कैसा फूट-फूटकर रो रहा है। क्या किया है आज तुमने? बार-बार पूँछने पर भी यही कहता है कि "अब्बा ने गोपू को जान से मार डाला है।" मेरी तो समझ में ही नहीं आता कि क्या हुआ?

सुनते ही थानेदार साहब सर थामकर बैठ गए।

गोपाल बहुत सीधा और स्नेही लड़का था। थानेदार का लड़का और गोपाल एक ही कक्षा में पढ़ते थे और दोनों में ख़ूब दोस्ती थी। थानेदार और उनकी बीबी दोनों ही गोपाल को अपने लड़के की ही तरह प्यार करते थे। थानेदार को बड़ा अफ़सोस हुआ, बोले, "आग लगे ऐसी नौकरी में। गिरानी का ज़माना है, वरना मैं तो इस्तीफ़ा देकर चल देता। पर करूँ तो क्या करूँ? घर में बीबी-बच्चे हैं, बूढ़ी मा है; इनका निर्वाह कैसे हो? नौकरी बुरी जरूर है, पर पेट का सवाल उससे भी बुरा है। आज ६०) माहवार मिलते हैं; नौकरी छोड़ने पर कोई बीस रुपट्टी को भी न पूछेगा—पापी पेट के लिए नौकरी तो करनी ही पड़ेगी; पर हाँ, इस हाय-हत्या से बचने का एक उपाय है। तीन महीने की मेरी छुट्टी बाक़ी है। तीन महीने बहुत होते हैं। तब तक यह तूफ़ान निकल ही जायगा। यह सोचकर उन्होंने छुट्टी की दरख्वास्त दूसरे ही दिन दे दी।

[३]

इधर कोतवाल बख्तावर सिंह का बुरा हाल था।

मारे रंज के उनका सिर दुखने लगा था। बख्तावर सिंह राजपूत थे। उन्होंने टॉड का राजस्थान पढ़ा था। राजपूतों की वीरता की फड़काने-वाली कहानियाँ उन्हें याद थीं। चितौड़ के जौहर, जयमल और फत्ता के आत्म-बलिदान और राणा प्रताप की बहादुरी के चित्र उनके दिमाग़ में रह-रह के चमक उठते थे। सोचते थे कि मैं समस्त राजपूत जाति की वीरता का वारिस हूँ। उनका सदियों का संचित गौरव मुझे प्राप्त है। मेरे पूर्वजों ने कभी निहत्थों पर शस्त्र नहीं चलाए, मैंने आज यह क्या कर डाला? ऐसे मारने से तो मर जाना अच्छा। पर पापी पेट जो न करावे सो थोड़ा।

इसी संकल्प-विकल्प में पड़कर उन्होंने रात को भोजन भी नहीं किया। आख़िर भोजन करते भी तो कैसे? उस घायल वत्स का रक्त-रंजित कोमल शरीर, उसकी सकरुण चीत्कार और उसकी हृदय को हिला देनेवाली निर्दोष, प्रश्नपूर्ण दृष्टि का चित्र उनकी आँखों के सामने रह-रहकर खिच जाता था। उसकी याद उनके हृदय को टुकड़े-टुकड़े किए डालती थी। इस प्रकार दुखते हुए हृदय को दबा-कर वे कब सो गए, कौन जाने?

सबेरे उठने पर उन्हें याद आई कि कल ही जो उन्हें तनख़ाह के तीन सौ रुपये मिले थे, उसे वे कोट की जेब में ही रखकर सो गए थे। कहीं किसी ने निकाल न लिये हों, इस खयाल से झटपट उन्होंने कोट की जेब में हाथ डाला और नोट निकाल कर गिनने लगे। एक-एक करके गिने; सौ-सौ के तीन नोट थे। उन पर सम्राट की तसवीर बनी थी और गवर्नमेन्ट की तरफ़ से किसी के हस्ताक्षर पर यह लिखा हुआ था कि "मैं माँगते ही एक सौ रुपये देने का वायदा करता हूँ रुक्का इन्दुल तलब प्रॉमिसरी नोट"—माँगते ही एक सौ रुपये! इसी प्रकार एक, दो, तीन, एक ही महीने में तीन सौ!! एक वर्ष में छत्तीस सौ, तीन हज़ार छै सौ; तीस वर्ष में एक लाख आठ हज़ार; हर साल तरक्की मिलेगी; फिर तीस साल के बाद पेंशन और ऊपर से!! इसी उधेड़-बुन में थे कि इतने ही में टेलीफ़ोन की घंटी बजी। वह चट से टेलीफ़ोन के पास गए बोले "हल्लो।" उधर से आवाज़ आई "डी० एस० पी० और आप कौन हैं?" इन्होंने कहा "शहर कोतवाल।" शहर कोतवाल का अधिकार पूर्ण शब्द उनके कानों में गूँज गया। उधर से फिर आवाज आई "अच्छा, तो कोतवाल साहब! आज ११ बजे जेल के

भीतर कल के गिरफ्तार-शुदा कैदियों का मुकदमा होगा। उसमें आपकी गवाही होगी। आप ठीक ११ बजे जेल पर पहुँच जाइये।" कोवताल साहब ने कहा, "बहुत अच्छा।"

अब कोतवाल साहब अपने दफ़्तर के काम में लग गए। आफ़िस में पहुँचते ही उनका रोज़ को ही तरह कुड़कुड़ाना शुरू हो गया। कोतवाली में काम बहुत रहता है, बड़ा शहर है; दिन भर काम करते-करते पिसे जाते हैं। एड़ी, चोटी का पसीना एक होजाता है। खाने तक की फ़ुरसत नहीं मिलती। चौबीसों घंटे गुलामी बजानी पड़ती है, तब कहीं तीन सौ रुपट्टी मिलते हैं। तीन सौ में होता ही क्या है? आजकल तो पाँच सौ से कम में कोई इज्ज़तदार आदमी रह ही नहीं सकता। इसी के लिये झूट, सच, अन्याय, अत्याचार क्या-क्या नहीं? उस पड़ता? पर उपाय भी तो कुछ नहीं है। इसकरुण के शरीर को क़ायम रखने के लिये पेट में निर्दोष, झोंकना ही पड़ेगा। क्या ही अच्छा होता, यदि रह-रहकर पेट न बनाता।" इन्हीं विचारों में समय हो टुकड़े-टुकड़े कोतवाल साहब ठीक ११ बजे गवाही देने के लिये दवा-चल दिए।

[४]

लाठी चार्ज का हुक्म देने के बाद ही मजिस्ट्रेट राय साहेब कुन्दनलाल जी को बड़े साहब का एक अर्जेन्ट रुक्का मिला। साहब ने उन्हें फ़ौरन बंगले पर बुलाया था। इधर लाठी चार्ज हो ही रहा था कि उधर वे मोटर पर सवार हो बड़े साहब के बंगले पहुँचे। काम की बातों के समाप्त हो जाने पर, उन्हें लाठी चार्ज कराने के लिए धन्यवाद देते हुए, बड़े साहब ने इस बात का भी आश्वासन दिया कि राय बहादुरी के लिए उनकी शिफ़ारिस अवश्य की जायगी। बड़े साहब का उपकार मानते हुए राय साहब कुन्दनलाल अपने बंगले लौटे। उन निहत्थों पर लाठी चलवाने के कारण उनकी आत्मा उन्हीं को कोस रही थी। हृदय कहता था कि यह बुरा किया। लाठी चार्ज बिना करवाए भी तो काम चल सकता था। आख़िर सभा हो ही जाती तो अमन में क्या ख़लल ड़ जाता? वे लोग सभा में किसी से मारपीट करने ो आए न थे। फिर मैंने ही उन्हें लाठी से टवा कर कौनसा भला काम कर डाला? किन्तु दिमाग़ उसी समय रोक कर कहा— यहाँ भले-बुरे का सवाल

नहीं है; तुमने तो अपना कर्त्तव्य पालन किया है। स्वयं भगवान् कृष्ण ने कर्त्तव्य पालन के लिए निकट सम्बंधियों तक को मारने का उपदेश अर्जुन को दिया था; फिर तुम्हारा कर्त्तव्य क्या है? अपने अफसर की आज्ञा का पालन करना। आतंक जमाने के लिए लाठी चार्ज कराने का तुम्हें हुक्म था। तुम सरकार का नमक खाते हो, उसकी आज्ञा का उल्लंघन नहीं कर सकते। आज्ञा मिलने पर उचित-अनुचित का विचार करने की जरूरत ही नहीं। स्वयं धर्म-नीति के ज्ञाता पितामह भीष्म ने दुर्योधन का नमक खाने के ही कारण, अर्जुन का पक्ष सत्य होते हुए भी, दुर्योधन का ही साथ दिया था। इसी प्रकार तुम्हें भी अपना कर्त्तव्य करना चाहिये; नतीजा बुरा हो चाहे भला।'

पर फिर उनके हृदय ने काटा, 'न जाने कितने निरपराधों के सिर फूटे होंगे?' दिमाग ने कहा 'फूटने दो; जब तक सरकार की नौकरी करते हो तब तक तुम्हें उसकी आज्ञा का पालन करना ही पड़ेगा, और यदि आज्ञा का पालन नहीं कर सकते तो ईमानदारी इसी में है कि नौकरी छोड़ दो।' माना कि आखिर ये लोग स्वराज्य के ही लिए झगड़ रहे हैं। उनका काम परमार्थ का है, सभी के भले के लि है; पर किया क्या जाय? नौकरी छोड़ दी जाय तो इ

पापी पेट के लिए भी तो कुछ चाहिए ? हमारे मन में क्या देश-प्रेम नहीं है ? पर खाली-पेट देश-प्रेम नहीं हो सकता। आज नौकरी छोड़ दें, तो क्या स्वराज वाले मुझे ६००) देंगे ? हमारे पीछे भी तो गृहस्थी लगी है; बाल-बच्चों का पेट तो पालना ही होगा। इसी प्रकार सोचते हुए वे अपने बँगले पहुँचे।

[५]

घर पहुँचने पर मालूम हुआ कि पत्नी अस्पताल गई हैं। लाठी-काण्ड में लड़के का सिर फट गया है। उनका कलेजा बड़े वेग से धड़क उठा। उनका एक ही लड़का था। तुरन्त ही मोटर बढ़ाई, अस्पताल जा पहुँचे; देखा कि उनकी स्त्री गोपू को गोद में लिये बैठी आँसू बहा रही है। गोपू के सिर में पट्टी बँधी है और उसकी आँखें बन्द हैं। उन्हें देखते ही पत्नी ने पीड़ा और तिरस्कार के स्वर में कहा, "यह है तुम्हारे लाठी चार्ज का नतीजा।" उसका गला रुँध गया और आँसू और भी वेग से बह चले। राय साहेब कुन्दन लाल के मुँह से एक शब्द भी न निकला। इतने ही में डाक्टर ने आकर उन्हें सांत्वना देते हुए कहा, " कोई खतरे की बात नहीं है। घाव गहरा जरूर है, पर

इससे भी गहरे-गहरे घाव अच्छे हो जाते हैं। आप चिन्ता न कीजिये।"

राय साहेब ने पत्नी से पूछा—आखिर, तुमने इसे वहाँ जाने ही क्यों दिया? पत्नी ने कहा—तो मुझ से पूछ के ही तो वहाँ गया था न?

रात भर गोपू बेहोश रहा और दूसरे दिन भी बेहोशी दूर न हुई। दूसरे दिन ११ बजे दिन से जेल में मुकद्दमा होने वाला था। परन्तु न्यायाधीश ठीक समय पर न पहुँच सके; आज उन्हें एक मामले में, जो ३ महीने से उनकी अदालत में चल रहा था, सज़ा सुनानी थी। मामला था, एक १३ साल की बालिका को बेचने के लिए भगा ले जाने का। जुर्म साबित हो चुका था। न्यायाधीश के द्वारा उसे छः महीने की सख्त क़ैद की सज़ा दी गई थी।

फ़ैसला सुनाकर न्यायाधीश महाशय जेल आए। कोतवाल और राय साहेब कुन्दनलाल की गवाही हो जाने पर अभियुक्तों में से एक को दो साल की सख्त क़ैद और २०००) जुर्माना, दूसरे को डेढ़ साल की सख्त क़ैद और १५००) जुर्माना, तीसरे को एक साल की सख्त क़ैद और ५००) जुर्माना की सज़ा दे दी गई। अभियुक्तों ने

मुकद्दमे में किसी प्रकार का भाग नहीं लिया और न पेशी ही बढ़वाई, इसलिए मुकद्दमा क़रीब एक घंटे में ही समाप्त हो गया।

तीनों अभियुक्त प्रतिष्ठित सज्जन थे और राय साहिब की जान-पहिचान के थे। मुकद्दमा ख़त्म हो जाने पर राय साहेब ने उनसे माफ़ी माँगते हुए कहा "क्षमा करना भाई, इस पापी पेट के कारण लाचार हैं, वरना क्या हमारे दिल में देश-प्रेम नहीं है?" यह कह कर उन्होंने अपनी आत्मा को कुछ सन्तोष दे डाला और जल्दी-जल्दी अस्पताल आए। गोपू की हालत और भी ज्याद: ख़राब हो गई थी। उसकी नाड़ी क्षीण पड़ती जाती थी। राय साहेब के पहुँचने पर उसने पहिली ही बार आँखें खोलीं; उसके मुँह पर हल्की सी मुस्कुराहट थी; धीमी आवाज से उसने कहा 'वन्देमा...। 'म्' की ध्वनि नहीं निकल पाई; 'म्' के साथ ही उसका मुँह खुला रह गया, और आँखें सदा के लिए बन्द हो गईं। उसकी माता चीख़ मार कर लाशपर गिर पड़ी। राय साहब के शून्य हृदय में बार-बार प्रश्न उठ रहा था 'यह सब किसके लिए'? और मस्तिष्क से प्रति-ध्वनि उसका उत्तर दे रही थी, 'पापी पेट के लिए'।

मंझली रानी

[१]

वे मेरे कौन थे ? मैं क्या बताऊँ ? वैसे देखा जाय तो वे मेरे कोई भी न होते थे। होते भी तो कैसे ? मैं ब्राह्मण, वे क्षत्रिय; मैं स्त्री, वे पुरुष; फिर न तो रिश्तेदार हो सकते थे और न मित्र। आह! यह क्या कह डाला मैंने ! मित्र ? भला किसी स्त्री का कोई पुरुष भी मित्र हो सकता है ? और यदि हो भी तो क्या इसे समाज बर्दाश्त करेगा ? यहाँ तो किसी पुरुष का किसी स्त्री से मिलना-जुलना या किसी प्रकार का व्यवहार रखना भी पाप है। और यदि कोई स्त्री किसी पुरुष से किसी

प्रकार का व्यवहार रखती है, प्रेम से बातचीत करती है तो वह स्त्री भ्रष्टा है, चरित्र-हीना है, नहीं तो पर पुरुष से मिलने-जुलने का और मतलब ही क्या हो सकता है ? ख़ैर, न तो मुझे समाज से कुछ लेना-देना है, न समाज से कुछ सरोकार। समाज ने तो मुझे दूध की मक्खी की तरह निकाल कर दूर फेंक दिया है। फिर मैं ही क्यों समाज की परवाह करूँ ?

मेरे माता-पिता साधारण स्थिति के आदमी थे। परिवार में माता पिता के अतिरिक्त मुझ-से बड़े मेरे तीन भाई और थे। मैं सब से छोटी थी। छोटी होने के कारण घर में मेरा लालन-पालन बड़े लाड़ प्यार में हुआ था। मेरे दो भाई बनारस हिन्दू-युनीवर्सिटी में पढ़ते थे और दोनों से छोटा राजन मैट्रिक में पढ़ रहा था। मेरे पिता जी संस्कृत के पूरे पंडित थे और पुरानी रूढ़ियों के कट्टर पक्षपाती। यहां तक कि वे मेरा विहाह नौ साल की ही उमर में करके गौरीदान के अक्षय पुण्य के भागी बनना चाहते थे। कई लोगों के और विशेषकर मेरे भाइयों के विरोध के कारण ही वे ऐसा न कर सके थे।

जब मैं पाँचवीं अँगरेज़ी में पढ़ रही थी और मेरी,

आयु चौदह साल के लगभग थी, तब मेरे माता-पिता को मेरे विवाह की चिन्ता हुई। वे योग्य वर की खोज में थे ही कि संयोग से ललितपुर के तालुक़ेदार राजा रामसोहन हमारे क़स्बे में शिकार खेलने के लिए आए। क़स्बे से लगा हुआ ही एक बड़ा जंगल था, जहाँ शिकार खेलने का अच्छा मौक़ा था। उनका खेमा जंगल से बाहर क़स्बे के पास ही था। क़स्बेवालों के लिए यह एक खासा तमाशा-सा हो गया था। उनके टेन्ट में कभी ग्रामोफोन बजता और कभी नाच-गाना होता। लोग बिना पैसे के तमाशा देखने को झुन्ड-के-झुन्ड जमा हो जाते। एक दिन मैं भी राजन और पिता जी के साथ राजा साहब के डेरे पर गई। मेरे पिता जी की राजा साहब से जान पहि-चान हो ही गई थी। हम लोग उन्हीं के पास जाकर कुर्सियों पर बैठ गए। राजा साहब ने हमारा बड़ा सम्मान किया। लौटते समय उन्होंने हम लोगों को अपनी ही सवारी पर भेजा और साथ में बहुत से फल, मेवा और मिठाई इत्यादि भी रखवा दी। क़स्बे की कई लड़कियों और लड़कों ने मुझे राजा साहब की सवारी पर लौटते हुए उत्सुक नेत्रों से देखा। उस सवारी पर बैठकर मैं अनुभव कर रही थी कि जैसे मैं भी कहीं

की रानी हूँ। मैंने उनकी ओर आंख उठाकर भी न देखा।

दूसरे दिन राजा साहब ने स्वयं पिता जी को बुलवा भेजा और उनसे मिलकर दो-तीन घंटे बाद जब पिता जी लौटे, तो इतने प्रसन्न थे कि उनके पैर धरती पर पड़ते ही न थे। ऐसा मालूम होता था कि वे सारे संसार को जीतकर आ रहे हैं। आते ही उन्होंने मेरी पीठ ठोंकी और वे मां से बोले,—लो, इससे अच्छा और क्या हो सकता था? तारा का विवाह राजा साहब के मंझले लड़के से तै हो गया। माता-पिता दोनों ही इस सम्बन्ध से बड़े प्रसन्न हुए।

[२]

मेरे भाइयों ने जब सुना कि तारा का विवाह, एक तालुक़ेदार के विलासी लड़के से, जो मामूली हिन्दी पढ़ा-लिखा है, तै हुआ है, तो उन्होंने इसका बहुत विरोध किया। किन्तु उनके विरोध को कौन सुनता था। पिता जी तो अपना हठ पकड़े थे, उनकी समझ में इससे अच्छा घर और वर मेरे लिए कहीं मिल ही न सकता था। सबसे अधिक आकर्षक बात तो उनके लिए थी वह कि वर बहुत बड़े ख़ानदान, बीस बिस्वे कनवजियों के घर का लड़का था।

फिर राजा से रिश्तेदारी करके क़स्बे में उनकी इज्जत बढ़ न जायगी क्या ? इसके अतिरिक्त, विवाह का प्रस्ताव भी तो स्वयं राजा साहब ने ही किया था । नहीं तो भला मामूली हैसियत के मेरे पिता जी यह प्रस्ताव कैसे ला सकते थे ? सबसे बढ़कर बात तो यह थी कि दहेज के नाम से कुछ न देकर भी लड़की इतने बड़े घर में ब्याही जाती थी; फिर भला इन बड़े-बड़े आकर्षणों के होते हुए भी पिता जी इस प्रस्ताव को कैसे टाल देते ?

पिता जी मेरी क़िस्मत को सराहना करके कहते, मेरी तारा तो रानी बनेगी । रानी बनने की खुशी में मैं फूली-फूली फिरती थी । भाइयों का विरोध करना, मुझे अच्छा न लगता, किन्तु मैं उनके सामने कुछ कह न सकती थी । ख़ैर, भाइयों के बहुत विरोध करने पर भी मेरा विवाह मंझले राजा मनमोहन के साथ हो ही गया ।

फूलों से सजी हुई मोटर पर बैठकर मैं ससुराल के लिए रवाना हुई । हमारे क़स्बे और ललितपुर के बीच में केवल २७ मील का अन्तर था; इसलिए बरात मोटरों से ही आई और गई थी । जीवन में पहिली ही बार मोटर पर बैठी थी । मुझे ऐसा मालूम होता कि

जैसे मैं हवा में उड़ी जा रही हूँ। सत्ताइस मील तक मोटर पर बैठने के बाद भी जी न भरा था। यही चाहती थी कि रास्ता लम्बा होता जाय और मैं मोटर पर घूमा करूं। किन्तु यह क्या संभव था ? आखिर को एक बड़े भारी महल के ज़नाने दरवाज़े पर मोटर जाकर खड़ी होगई। सास तो थी ही नहीं, इसलिए मेरी जिठानी बड़ी रानी जी परछन करके मुझे उतार ले गईं। मुझे एक बड़े भारी सजे हुए कमरे में बिठाल दिया गया, और स्त्रियां बारी-बारी से मेरा मुँह खोल-खोल के देखने लगीं। कोई रुपया, कोई छोटे-मोटे ज़ेवर या कपड़े मेरी मुँह-दिखाई में दे-देकर जाने लगीं। मेरी जिठानी बड़ी रानी ने भी मेरा मुँह देखा; कुछ बोली नहीं; 'उँह' करके मेरी अँगुली में एक अँगूठी पहिना दी। मैंने सुना कि वे पास ही के किसी कमरे में किसी से कह रहीं थी—देखा बहू को ? क्या तारीफ़ के पुल बंध रहे थे ? ससुर जी के कहने से तो बस यही मालूम होता था कि इन्द्र की अप्सरा ही होगी ? पर न रूप, न रंग, न जाने क्यों सुन्दर कह-कह के कंगले की बेटी व्याह के अपनी इज्ज़त हलकी की। रोटी-बेटी का व्यवहार तो अपनी बराबरी वालों ही में होता है, बिरजू की माँ! पर ससुर जी तो इसके रूप पर बिलकुल लट्टू ही हो गये थे। मैं

सुन्दर नहीं हूँ तो क्या मुझे सुन्दरता की परख भी नहीं है? न जाने कितनी सुन्दरियां देखीं है, यह तो इनके पैरों की धूल के बराबर भी न होगी। मालूम होता है, उमर के साथ-साथ ससुर जी की आँखें भी सठिया गई हैं; मंझले राजा को डुबो दिया।

बिरजू की माँ उनकी हाँ में हाँ मिलाती हुई बोलीं—सुन्दर तो है रानी जी! जैसी आप लोग हैं वैसी ही है; पर अभी बच्चा है; जवान होगी तो रूप और निखर आयेगा।

बड़ी रानी तिलमिला उठीं और बोलीं—रूप निखरेगा पत्थर; 'होनहार बिरवान के होत चीकने पात'। निखरने वाला रूप सामने ही दीखता है। फिर वे जरा विरक्ति के भाव से बोलीं—उँह, जानें भी दो; अच्छा हो या बुरा, हमें करना ही क्या है?

जब मैं वहाँ अकेली रह गई, सब औरतें चली गईं, तो मेरी माँ के घर की खवासन ने, सूना कमरा देखकर, मेरा मुँह खोल दिया। शीशा उठाकर मैंने एक बार अपना मुँह ध्यान से देखा, फिर रख दिया; ढूँढने से भी मुझे अपने रूप-रंग में कोई ऐब न मिला।

[३]

पहिली बार केवल ५ दिन ससुराल रहकर मैं अपने पिता के साथ मायके आगई। ससुराल के ५ दिन मुझे ५ वर्ष की तरह मालूम हुए। मैंने जो रानीपने का सुनहला सपना देखा था, वह दूर हो चुका था। ससुराल से लौट कर मैंने तो कुछ नहीं कहा, किन्तु ख़वासन ने वहाँ के सब हाल-चाल बतलाए। माँ ने कहा—तो क्या रानी केवल कहने ही के लिये होती हैं; भीतर का हाल हमारे घरों से भी गया-बीता होता है ?

मैं अपनी माँ के साथ मुश्किल से महीना, सवा महीना ही रह पाई थी कि मुझे बुलाने के लिये ससुराल से सन्देसा आया। राजाओं की इच्छा के विरुद्ध तिलभर भी मेरे पिता जी कैसे जाते ? न चाहते हुए भी, उन्हें मेरी बिदाई करनी ही पड़ी। इतनी जल्दी ससुराल जाना मुझे जरा भी अच्छा न लगा; परन्तु क्या करती, लाचार थी। सावन में जब कि सब लड़कियाँ ससुराल से मायके आती हैं, मैं ससुराल रूपी क़ैदखाने में बन्द होने चली। देवर के साथ फिर मोटर पर बैठी। इस बार मैंने अपना छोटा-सा हारमोनियम भी साथ रख लिया था।

फिर ससुराल पहुँची। पहिली बार तो मेरे साथ माँ के घर की खवासन थी; इस बार, उस हारमोनियम और थोड़ी-सी पुस्तकों को छोड़कर, कोई न था। मेरा जी एक कमरे में चुपचाप बैठे-बैठे बड़ा घबराया करता। घर में कोई ऐसा न था जिससे घंटे दो घंटे बातचीत करके जी बहलाती। केवल छोटे राजा, मेरे देवर की बातें मुझे अच्छी लगती थीं; किन्तु वे भी मेरे पास कभी-कभी, और अधिकतर बड़ी रानी की नजर बचाकर ही आते थे। मैं सारे दिन पुस्तकें पढ़ा करती; पर पुस्तकें थीं ही कितनी? आठ-दस दिन में सब पढ़ डालीं। यहाँ तक कि एक-एक पुस्तक दो-दो, तीन-तीन बार पढ़ी गई। छोटे राजा कभी-कभी मुझे अखबार भी ला दिया करते थे; किन्तु सबकी आँख बचाकर।

घर में सब काम के लिये नौकर-चाकर और दास-दासियाँ थीं। मुझे घर में कोई काम न करना पड़ता था। मेरी सेवा में भी दो दासियाँ सदा बनी रहती थीं; पर मुझे तो ऐसा मालूम होता था कि मैं उनके बीच में क़ैद हूँ, क्योंकि मेरी राई-रत्ती भी बड़ी रानी के पास लगा दी जाती थी। उन दासियों में से यदि मैं किसी को किसी काम से कहीं भेजना चाहती, तो वे मेरे कहने मात्र से ही

कहीं न जा सकती थीं; उन्हें बड़ी रानी से हुक्म लेना पड़ता था। यदि उधर से स्वीकृति मिल जाती तो मेरा काम होता, अन्यथा नहीं। इसी प्रकार हर माह मुझे १५०) खजाने से हाथ-खर्च के लिये मिलते थे; किन्तु क्या मजाल कि उसमें से एक पाई भी महाराजा से पूँछे बिना खर्च कर दूँ। भीतर के शासन की बागडोर बड़ी रानी के हाथ में थी, और बाहर की महाराजा मेरे ससुर के हाथ में। मेरे पति मंझले राजा, बड़े ही विलास-प्रिय, मदिरा-सेवी, शिकार के शौकीन और न जाने क्या क्या थे, मैं क्या बताऊँ ? वे बहुत सुन्दर भी थे। किन्तु उनके दर्शन मुझे दुर्लभ थे। चार छै दिन में कभी घंटे, आध घंटे के लिए, वे मेरे कमरे में आ जाते तो मेरा अहो भाग्य समझो। उनकी रूप-माधुरी को एक बार जी-भर के पीने के लिए मेरी आँखे आज तक प्यासी हैं; किन्तु मेरे जीवन में वह अवसर कभी न आया।

इस दिखावटी वैभव के अन्दर मैं किसी प्रकार अपने जीवन को घसीटे जा रही थी। इसी समय मेरे अंधकार-पूर्ण जीवन में प्रकाश की एक सुनहली किरण का आगमन हुआ।

छोटे राजा की उमर १७,१८ साल की थी। वे बड़े

नेक और होनहार युवक थे। घर में पढ़ने-लिखने का शौक़ केवल उन्हीं को था। छोटे राजा मैट्रिक की तैयारी कर रहे थे; और एक मास्टर बाबू उन्हें पढ़ाया करते थे। घर में आने-जाने की उन्हें पूर्ण स्वतंत्रता थी। घर में स्त्रियों की आवश्यक वस्तुएँ बाहर से मँगवा देना भी मास्टर बाबू के ही ज़िम्मे था। इसलिये वे घर में सबसे और भी ज्याद: परिचित थे।

विवाह के बाद से ही बड़ी रानी मुझ से नाराज़ थीं। उन्हें मेरी चाल-ढाल, रहन-सहन ज़रा भी न सुहाते। हर बात में मेरे ऐब ही ढूँढ निकालने की फ़िराक़ में रहतीं। तिल का ताड़ बना कर, मेरी ज़रा-ज़रा-सी बात को वे परिचित या अपरिचित, जो कोई भी आता उससे कहतीं। शायद वे मेरी सुन्दरता को मेरे ऐबों से ढँक देना चाहती थीं। वही बात उन्होंने मास्टर बाबू के साथ भी की। वे तो घर में रोज़ ही आते थे। और रोज़ उनसे मेरी शिकायत होने लगी। किन्तु इसका असर ही उल्टा हुआ; मैंने देखा, तिरस्कार की जगह मास्टर बाबू का व्यवहार मेरे प्रति अधिक मधुर और आदर-पूर्ण होने लगा।

[४]

छोटे राजा को मेरा गाना बहुत अच्छा लगता; वे बहुधा

मुझ से गाने के लिये आग्रह करते। मुझे तो अब गाने-बजाने की ओर कोई विशेष रुचि न रह गई थी; किन्तु छोटे राजा के आग्रह से मैं अब भी, कभी-कभी गा दिया करती थी। एक दिन की बात है। जाड़े के दिन थे; किन्तु आकाश बादलों से फिर भी ढका था। मैं अपने कमरे में बैठी एक मासिक पत्रिका के पन्ने उलट रही थी; इतने में छोटे राजा आए; मुझ से बोले, मंझली भाभी कुछ गा कर सुनाओ।

मैंने बहुत टाल-मटोल की; किन्तु छोटे राजा न माने; बाजा उठाकर सामने रख ही तो दिया। मैंने हारमोनियम पर गीत गोविन्द का यह पद छेड़ा—

"विहरत हरिरिह सरस बसन्ते।
नृत्यति युवति जनेन् समं सखि विरहि जनस्य दुरन्ते।
ललित लवंग लता परिशीलन कोमल मलय समीरे।
मधुकर निकर करम्बित कोकिल कूजत कुंज कुटीरे॥"

मास्टर बाबू भी, न जाने कैसे और कहाँ से, आए और पीछे चुपचाप खड़े हो गये। छोटे राजा की मुस्कुराहट से मैं भाँप गई; पीछे फिर कर जो उन्हें देखा तो हारमोनियम

सरका कर मैं चुपचाप बैठ गई। वे भी हँसकर वहीं बैठ गये, बोले, "मंझली रानी! आप इतना अच्छा गा सकती हैं, मैंने आज ही जाना।

छोटे राजा—अच्छा न गाती होतीं तो क्या मैं मूर्ख था, जो इनके गाने के पीछे अपना समय नष्ट करता?

इधर यह बातें हो ही रहीं थीं कि दूसरी तरफ से पैर पटकती हुई बड़ी रानी कमरे में आई, क्रोध से बोलीं—यह घर तो अब भले आदमी का घर कहने लायक रह ही नहीं गया है। लाज-शरम तो सब जैसे धो के पी लो हो। बाप रे बाप! हद हो गई। जैसे हल्के घर की हैं, वैसी ही हल्की बातें यहाँ भी करती हैं। पास-पड़ोस वाले सुनते होंगे तो क्या कहते होंगे? यही न, कि मंझले राजा की रानी रंडियों की तरह गा रही है। बाबा! इस कुल में तो ऐसा कभी नहीं हुआ। कुल को तो न लजवाओ देवी! बाप के घर जाना तो भीतर क्या, चाहे सड़क पर गाती फिरना। किन्तु यहाँ यह सब न होने पावेगा। तुम्हें क्या? घर के भीतर बैठी-बैठी चाहे जो कुछ करो, वहाँ आदमियों की तो नाक कटती है।

एक सांस में इतनी सब बातें कहके बड़ी रानी चली गईं।

मैंने सोचा, शराब पीकर रंडियों की बांह में बांह डाल कर टहलने में नाक नहीं कटती। ग़रीबों पर मनमाने जुल्म करने पर नाक नहीं कटती। नाक कटती है मेरे गाने से, सो अब मैं बाजे को कभी हाथ ही न लगाऊँगी। उस दिन से फिर मैंने बाजे को कभी नहीं छुआ; और न छोटे राजा ने ही कभी मुझसे गाने का आग्रह किया। यदि वे आग्रह करते, तब भी मुझ में बाजा छूने का साहस न था।

इस घटना के कई दिन बाद एक दिन मास्टर बाबू छोटे राजा को पढ़ा कर ऊपर से नीचे उतर रहे थे, और मैं नीचे से ऊपर जा रही थी। आख़िरी सीढ़ी पर ही मेरी उनसे भेंट हो गई; वे ठिठक गये, बोले—

'कैसी हो मंझली रानी ?'

'जीती हूँ।'

'खुश रहा करो; इस प्रकार रहने से आख़िर कुछ लाभ ?'

'जी को कैसे समझाऊँ, मास्टर बाबू ?'

'अच्छी-अच्छी पुस्तकें पढ़ा करो; उनसे अच्छा साथी संसार में तुम्हें कोई न मिलेगा।'

'पर मैं अच्छी-अच्छी पुस्तकें लाऊ कहां से ?'

'लाने का ज़िम्मा मेरा।'

'यदि आप अच्छी पुस्तकें ला दिया करें तो इससे अच्छी और बात ही क्या हो सकती है ?'

'यह कौन बड़ी बात है मंझली रानी ! मेरे पास बहुत-सी पुस्तकें रखी हैं। उनमें से कुछ मैं तुम्हें ला दूँगा।'

इस कृपा के लिये उन्हें धन्यवाद देती हुई मैं ऊपर चली और वे बाहर चले गये। मैंने ऊपर आँख उठा कर देखा तो बड़ी रानी खड़ी हुई, तीव्र दृष्टि से मेरी ओर देख रही थीं। मैं कुछ भी न बोलकर नीची निगाह किए हुए अपने कमरे में चली गई।

[५]

दूसरे दिन मास्टर बाबू समय से कुछ पहले ही आए। उनके हाथ में कुछ पुस्तकें थीं। वे छोटे राजा के कमरे में न जाकर सीधे मेरे कमरे में आए;

और बाहर से ही आवाज दी; किन्तु दोनों दासियों में से इस समय एक भी हाज़िर न थी। इसलिये मैंने ही उनसे कहा--आइए मास्टर बाबू! वे आकर बैठ गये। किताबों और लेखकों के नाम बतला कर वे मुझे किताबें देने लगे। ये महात्मा गांधी की 'आत्मकथा' के दोनों भाग हैं। यह है बाबू प्रेमचन्द्र जी की 'रंग-भूमि'; इसके भी दो भाग हैं। यह मैथली बाबू का 'साकेत' और यह पंत जी का 'पल्लव'। इसके अतिरिक्त और भी बहुत-सी पुस्तकें हैं। इन्हें तुम पढ़ लोगी, तब मैं तुम्हें और ला दूँगा।

इसके बाद वे 'साकेत' उठाकर, उर्म्मिला से लक्ष्मण की बिदा का जो सुन्दर चित्र मैथली बाबू ने अंकित किया है, मुझे पढ़ कर सुनाने लगे। इतने ही में मुझे वहाँ बड़ी रानी की झलक दीख पड़ी और उसके साथ मेरे कमरे के दोनों दरवाजे फटाफट बन्द हो गये। मास्टर बाबू ने एक बार मेरी तरफ फिर, दरवाजे की तरफ देखा; फिर वे बोले—भाई, यह दरवाज़ा किसने बन्द कर दिया है? खोल दो।

जब कोई भी उत्तर न मिला तो मुझे क्रोध आ गया।

मैंने तीव्र स्वर में कहा—यह दरवाज़ा किसने बन्द किया है ? खोलो; क्या, मालूम नहीं है कि हम लोग भीतर बैठे हैं ?

. . .

बड़ी रानी की कर्कश आवाज़ सुनाई दी—'ठहरो, अभी खोल दिया जायगा। तुम लोग भीतर हो, यही दिखाने के लिए तो दरवाज़ा बन्द किया गया है। पर देखने वाले भी तो ज़रा आ जाँय। यह नारकीय लीला अब ज़्यादः दिन न चल सकेगी।

'नारकीय लीला' ! मेरा माथा ठनका, हे भगवान ! क्या पुस्तक पढ़ना भी 'नारकीय लीला है ? इस प्रकार लगभग १५ मिनट हम लोग बन्द रहे। गुस्से से मास्टर बाबू का चेहरा लाल हो रहा था। उधर बाहर बड़े राजा, मंझले राजा और महाराजा जी की आवाज़ मुझे सुनाई दी; और उसके साथ ही कमरे का दरवाज़ा खुल गया।

बड़ी रानी बोलीं—मेरी बातों पर तो कोई विश्वास ही नहीं करता था। अब अपनी अपनी आंखों देखो। आंखें धोखा तो नहीं खा रही हैं ?

आज तक मैंने मंझले राजा की विलासी मूर्त्ति देखी

थी। आज मैंने उनका रुद्र रूप भी देखा। क्रोध से पैर पटकते हुए वे बोले- -किरणकुमार, इस कमरे में तुम किसके हुक़्म से आए? मास्टर बाबू भी उसी स्वर में बोले—मुझे किस कमरे में जाने का हुक़्म नहीं है?

बड़े राजा—मास्टर बाबू, अब यहाँ से चले जाओ, इसी में तुम्हारी कुशल है।

वे—मुझे ऐसी कुशल नहीं चाहिए। मैं पापी नहीं हूँ जो कायर की तरह भाग जाऊँगा। जाने से पहिले मैं आप को बतला देना चाहता हूँ कि मैं और मंझली रानी दोनों ही पवित्र और निर्दोष हैं। यह हरक़त ईर्ष्या और जलन के ही कारण की गई है।

बड़ी रानी गरज उठीं-"उलटा चोर कोतवाल को डांटे"; चोरी की चोरी, उस पर भी सीना ज़ोरी। मैं! मैं ईर्ष्या करूगी तुमसे? तुम हो किस खेत की मूली? मैं तुम्हें समझती क्या हूँ? तुम हो एक अदना से नौकर और यह है कल की छोकरी; सो भी किसी रईस के घर की नहीं। ईर्ष्या तो उससे की जाती है जो अपनी बराबरी का हो। फिर बड़े राजा की तरफ़ मुड़कर बोलीं—तुम इसे ठोकर मार के निकलवा

क्यों नहीं देते ? तुम्हारे सामने ही खड़ा-खड़ा जबान लड़ा रहा है, और तुम सुन रहे हो; पहिले ही कहा था कि नौकर-चाकर को ज्यादः मुँह न लगाया करो ।

महाराज बड़े गुस्से से बोले—किरण कुमार चले जाओ।

इसी समय न जाने कहाँ से छोटे राजा आपहुँ और मास्टर बाबू को ज़बरदस्ती पकड़कर अपने साथ लिवा ले गये। वे चले गये। मुझपर क्या बीती होगी, कहने की आवश्यकता नहीं; समझ लेने की बात है। नतीजा सब का यह हुआ कि उसी दिन एक चिट्ठी के साथ सदा के लिये मैं विदा कर दी गई । एक इक्के पर बैठाल कर चपरासी मुझे मां के घर पहुँचाने गया । चिट्ठी मेरे पिता जी के नाम थी, जिसमें लिखा था कि " आपकी पुत्री भ्रष्टा है; इसने हमारे कुल में दाग़ लगा दिया है; इसके लिए अब हमारे घर में जगह नहीं है ।" बात की बात में सारे मुहल्ले भर में मेरे भ्रष्टाचरण की बात फैल गई। यहाँ तक कि मेरे पिता के घर पहुँचने से पहिले ही यह बात पिता जी के घर तक भी पहुँच गई थी।

[६]

जब मैं पिता जी के घर पहुँची, शाम हो चुकी थी। इस बीच माता जी का देहान्त हो चुका था। भाई भी तीनों, कालेज में थे। घर पर मुझे केवल पिता जी मिले; उन्होंने मुझे अन्दर न जाने दिया; बाहर दालान में ही बैठाला। चिट्ठी पढ़ने के बाद वे तड़प उठे, बोले—जब यह भ्रष्ट हो चुकी है तो इसे यहाँ क्यों लाए? रास्ते में कोई खाई, खन्दक न मिला, जहाँ ढकेल देते? इसे मैं अपने घर रक्खूँगा? जाय, कहीं भी मरे। मुझे क्या करना है? मैं पिता जी के पैरों पर लोट गई; रोती-रोती बोली—पिता जी, मैं निर्दोष हूँ। पिता जी दो क़दम पीछे हट गये और कड़क कर बोले, "दूर रह चांडालिन; निर्दोष ही तू होती तो इतना यह बवंडर ही क्यों उठता? उन्हें क्या पागल कुत्ते ने काटा था जो बैठे-बैठाए अपनी बदनामी करवाते? जा, जहाँ जगह मिले, समा जा। मेरे घर में तेरे लिए जगह नहीं है। क्या करूं, अंगरेजी राज्य न होता तो बोटी-बोटी काट के फेंक देता।"

इस होहल्ला में समाज के कई ऊँची नाक वाले अगुआ और कई पास-पड़ोस वाले भी जमा हो गये। सबने

मेरे भ्रष्टाचरण की बात सुनी और घृणा से मुँह सिकोड़ा। एक बोला 'नहीं भाई, अब तो यह घर में रखने लायक नहीं। जब ससुरालवालों ने ही निकाल दिया तो क्या पंडित रामभजन अपने घर रख कर जात में अपना हुक्का-पानी बन्द करवायेंगे।' दूसरे ने पिता जी पर पानी चढ़ाया 'अरे भाई! घर में रक्खें तो रहने दो, उनकी लड़की है; पर हम तो पंडित जी के दरवाज़े पर पैर न देंगे।'

मैं फिर एक बार भीतर जाने के लिए दरवाज़े की तरफ़ झुकी; किन्तु पिता जी ने एक झटके के साथ मुझे दरवाज़े से कई हाथ दूर फेंक दिया। कुल में दाग तो मैंने लगा ही दिया था, वे मुझे घर में रखकर क्या जात बाहर भी हो जाते? मैं दूर जा गिरी और गिर कर बेहोश हो गई। मुझे जब होश आया तब मेरे घर का दरवाज़ा बन्द हो चुका था, और मुहल्ले भर में सन्नाटा छाया था। केवल कभी-कभी एक-दो कुत्तों के भूकने का शब्द सुन पड़ता था। मैं उठी; बहुत कुछ सोचने के बाद स्टेशन की तरफ चली। एक कुत्ता भूँक उठा, जैसे कह रहा हो कि अब इस मुहल्ले में तुम्हारे लिये जगह नहीं है। जब मैं स्टेशन पहुँची एक गाड़ी तैयार खड़ी

थी। बिना कुछ सोचे-विचारे मैं गाड़ी के एक जनाने डिब्बे में बैठ गई। गाड़ी कितनी देर तक चलती रही, कहाँ-कहाँ खड़ी हुई, कौन-कौन से स्टेशन बीच में आए, मुझे कुछ पता नहीं; किन्तु सबेरे जब ट्रेन कानपूर पहुँच कर रुक गई और एक किसी रेलवे कर्मचारी ने आकर मुझे उतरने को कहा तो मैं जैसे चौंक-सी पड़ी। मैंने देखा, सारी ट्रेन यात्रियों से ख़ाली हो गई है, स्टेशन पर भी यात्री बहुत कम थे। ट्रेन पर से उतर कर मेरी समझ में ही न आता था कि कहाँ जाऊँ। कल इस समय तक जो एक महल की रानी थी, आज उसके लिये खड़े होने के लिए भी स्थान न था। बहुत देर बाद मुझे एकाएक ख्याल आया कि सत्याग्रह-संग्राम तो छिड़ा ही हुआ है क्यों न मैं भी चलकर स्वयं-सेविका बन जाऊँ और देश-सेवा में जीवन बिता दूँ। पूँछती हुई मैं किसी प्रकार कांग्रेस-दफ़तर पहुँची। वहाँ पर दो-तीन व्यक्ति बैठे थे, उन्होंने मुझसे पूछा कि मेरे पास किसी कांग्रेस कमेटी का प्रमाण-पत्र है ? जब मैंने कहा 'नहीं'। तब उन्होंने मुझे स्वयं-सेविका' बनाने से इन्कार कर दिया। इसके बाद इसी प्रकार मैं कई संस्थाओं और सुधारकों के दरवाज़े-

दरवाजे भटकी किन्तु मुझे कहीं भी आश्रय न मिला। विवश होकर मैं भूखी-प्यासी चल पड़ी, किन्तु जाती कहाँ? थक कर एक पेड़ के नीचे बैठ गई। मैंने अपनी अवस्था पर विचार किया। मैं आज रानी से पथ की भिखारिणी हो चुकी थी; मेरे सामने अब भिक्षावृत्ति को छोड़ कर दूसरा उपाय ही क्या था? इसी समय न जाने कहाँ से एक भिखारिणी बुढ़िया भी उसी पेड़ के नीचे कई छोटी-छोटी पोटलियाँ लिए हुए आकर बैठ गई। बड़े इतमीनान के साथ अपने दिनभर के माँगे हुए आटे, दाल, चावल को अपने चीथड़े में अच्छी तरह बाँध कर बुढ़िया ने मेरी तरफ़ देखा। मैंने भी उसकी ओर देखा। दुःख मे भी एक प्रकार का आकर्षण होता है जिसने क्षण भर में ही हम दोनों को एक कर दिया। भिखारिणी बहुत वृद्धी थी, उसे आँख से भी कम दिख पड़ता था। भिक्षा-वृत्ति करने के लिए अब उसे किसी साथी या सहारे की जरूरत थी। मैं उसी के साथ रहने लगी।

इन कई बार मैंने आत्म-हत्या करना चाही किन्तु उस तरफ [illegible] मालूम होता कि जैसे कोई हाथ पकड़ लेता हो कि अब इस[illegible]गात भी न कर सकी। लगातार एक साल है। जब मैं स्टेश[illegible]

तक भिखारिणी के साथ रह कर भी मुझे भीख मांगना न आया। आता भी तो कैसे ? अतएव मैं बुढ़िया का हाथ पकड़ कर उसे सहारा देती हुई चलती, और भीख वही मांगा करती। मैं जवान थी, सुन्दर थी, फटे-चीथड़े और मैले-कुचैले वेष में भी, मैं अपना रूप न छिपा सकती और मेरारूप ही हर जगह मेरा दुश्मन हो जाता। अपने सतीत्व की रक्षा के लिए मुझे बहुत सचेत रहना पड़ता था और इसीलिए मुझे जल्दी-जल्दी स्थान बदलना पड़ता था।

मेरे बदन की साड़ी फट कर तार-तार हो गई थी; बदन ढांकने के लिए साबित कपड़ा भी न था। प्रयाग में माघी अमावस्या के दिन बड़ा भारी मेला लगता है। बुढ़िया ने कहा वहाँ, चलने पर हमें ३, ४ महीने भर के खाने को मिल जायगा और कपड़ों के लिए पैसे भी मिल जांयगे। मैं बूढ़ी के साथ पैदल ही प्रयाग के लिए चल पड़ी।

माँगते-खाते कई दिनों में हम लोग प्रयाग पहुँचे। यहाँ पूरे महीने भर मेला रहता है। दूर-दूर के बहुत से यात्री आते हैं। हम लोग रोज़ सड़क के किनारे एक कपड़ा बिछाकर बैठ जाते; दिन भर भिक्षा माँगकर शाम को एक पेड़ के नीचे अलाव जलाकर सो जाते।

एक दिन इसी प्रकार शाम को जब हम दिन भर की भिक्षा-वृत्ति के बाद लौट रहे थे तब एक बग्घी निकली जिसमें कुछ स्त्रियाँ थीं। बुढ़िया एक पैसे के लिए हाथ फैलाकर गाड़ी के पीछे-पीछे दौड़ी। कुछ दूर के बाद गाड़ी के अन्दर से एक पैसा फेंका गया। शाम के धुँधले प्रकाश में बुढ़िया जल्दी पैसा न देख सकी; वह पैसा देखने के लिए कुछ देर तक झुकी रही। उसी समय, एक मोटर पीछे से और एक सामने से आ गई। बुढ़िया ने बहुत बचना चाहा, मोटर वाले ने भी बहुत बचाया, पर बुढ़िया मोटर की चपेट में आ ही गई; उसे गहरी चोट लगी और उसे बचाने की चेष्टा में, मुझे भी काफी चोट आई। जिस मोटर की चपेट हम लोगों को लगी थी, उस मोटर वाले ने पीछे मुड़कर देखा भी नहीं, किन्तु दूसरी मोटरवाले रुक गये। उसमें से दो व्यक्ति उतरे। मेरे मुँह से सहसा एक चीख़ निकल गई।

[७]

कई दिनों तक लगातार बुख़ार के बाद जिस दिन मुझे होश आया, मैंने अपने आपको एक जनाने अस्पताल के परदावार्ड के कमरे में पाया। एक खाट पर मैं पड़ी थी,

मेरे पास ही दूसरी खाट पर भिखारिणी भी मरणासन्न अवस्था में पड़ी थी। मैं खाट से उठकर बैठने लगी, मास्टर बाबू पास ही कुर्सी पर बैठे कुछ पढ़ रहे थे। मुझे उठते देखकर पास आकर बोले, "अभी आप न उठें। बिना डाक्टर की अनुमति के आपको खाट पर से नहीं उठना है"।

'क्यों ? मैं पथ की भिखारिणी, मुझे ये साफ़-सुथरे कपड़े, ये नरम-नरम बिछौने क्यों चाहिये ? कल से तो मुझे फिर वही गली-गली की ठोकर खानी पड़ेगी न' ?

उनकी बड़ी-बड़ी आँखें सजल हो गईं। वे बड़े ही करुण स्वर में बोले—मँझली रानी ! क्या तुम मुझे क्षमा न करोगी ? तुम्हारा अपराधी तो मैं ही हूँ न ? मेरे ही कारण तो आज तुम राजरानी से पथ की भिखारिणी बन गई हो।

जब मुझे उन्होंने 'मँझली रानी' कह कर बुलाया तो मैं चौंक-सी पड़ी। सहसा मेरे मुँह से निकल गया 'मास्टर बाबू !"

× × ×

दो तीन दिन में मैं पूर्ण स्वस्थ हो गई। परन्तु भिखा-

रिणी की हालत न सुधर सकी; और एकदिन उसने अपनी जीवन-लीला समाप्त कर दी। उसके अन्तिम संस्कारों से निवृत्त होकर मैं मास्टर बाबू के साथ उनके बंगले में रहने लगी। किन्तु मैं अभी तक नहीं जान सकी कि वे मेरे कौन हैं? वे मुझ पर माता की तरह ममता, पिता की तरह प्यार करते हैं; भाई की तरह सहायता और मित्र की तरह नेक सलाह देते हैं; पति की तरह रक्षा और पुत्र की तरह आदर करते हैं; कुछ न होते हुए भी वे मेरे सब कुछ हैं; और सब कुछ होते हुए भी वे मेरे कुछ नहीं हैं।

परिवर्तन

[१]

ठाकुर खेतसिंह, इस नाम को सुनते ही लोगों के मुँह पर घृणा और प्रतिहिंसा के भाव जागृत हो जाते थे। किन्तु उनके सामने किसी को उनके ख़िलाफ़ चूँ करने की भी हिम्मत न पड़ती। प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष, किसी भी रूप से कोई ठाकुर खेतसिंह के विरुद्ध एक तिनका न हिला सकता था। खुले तौर पर उनके विरुद्ध कुछ भी कह देना कोई मामूली बात न थी। दो-चार शब्द कह कर कोई ठाकुर साहब का तो कुछ न बिगाड़ सकता परन्तु अपनी आफ़त अवश्य बुला लेता था।

एक बार इसी प्रकार ठाकुर साहब के किसी कृत्य पर अफ़सोस ज़ाहिर करते हुए मैकू अहीर ने कहा कि "हैं तो इतने बड़े आदमी पर काम ऐसे करते हैं कि कमीन भी करते लजायगा।" बस, इतना कहना था कि बात नमक-मिर्च लग कर ठाकुर साहब के पास पहुँच गई और बिचारे मैकू की शामत आगई। दूसरे दिन ड्योढ़ी पर मैकू बुलाया गया। दरवाज़ा बन्द करके भीतर ठाकुर साहब ने मैकू की खूब मरम्मत करवाई और साथ ही यह ताकीद भी कर दी गई कि यदि इसकी खबर ज़रा भी बाहर गई तो वह इस बार गोली का ही निशाना बनेगा। मैकू तो यह ज़हर का सा घूँट पीकर रह गया, किन्तु मैकू की स्त्री सुखिया से न रहा गया; उसने दस-बीस खरी-खोटी बककर ही अपने दिल के फफोले फोड़े; किन्तु यह तो असम्भव था कि सुखिया दस-बीस खरी- खोटी सुना जाय और ठाकुर साहब को इसकी खबर न लगे।

नतीजा यह हुआ कि उसी दिन रात को मैकू के झोपड़े में आग लग गई और उसकी गेहूँ की लहलहाती हुई फसल घोड़ों से कुचलवा दी गई। दूसरे दिन बेचारे मैकू को बोरिया-बँधना बाँध कर वह गाँव ही छोड़ देना पड़ा।

[२]

ठाकुर खेतसिंह बड़े भारी इलाक़ेदार थे, सोलह हज़ार सालाना सरकारी लगान देते थे। दरवाज़े पर हाथी झूमा करता। घोड़े, गाड़ी, मोटर, और भी न जाने क्या-क्या उनके पास था। दो संतरी किरच बाँधे चौबीसों घंटे फाटक पर बने रहते। जब बाहर निकलते सदा दस-बीस लठैत जवान साथ होते। उस इलाक़े में न जाने कितने बैठे-बैठे मुफ़्त खा रहे थे और न जाने कितने मटियामेट हो रहे थे। पर इस पर टीका-टिप्पणी कर के कौन आफ़त मोल ले? ठाकुर साहब का आतंक इलाक़े भर में छाया हुआ था। उनकी नादिरशाही को कौन नहीं जानता था? किसी की सुन्दर बहू-बेटी ठाकुर साहब के नजर तले पड़ भर जाय और उनकी तबीयत आ जाय, तो फिर चाहे आकाश- पाताल एक ही क्यों न करना पड़े, किसी न किसी तरह वह ठाकुर साहब के जनानखाने में पहुँच ही जाती थी। स्टेशन पर भी उनके गुर्गे लगे रहते, जो सदा इस बात की टोह में रहते कि कोई सुन्दरी स्त्री यहाँ पर आजाय तो वह किसी प्रकार बहकाकर, धोखा देकर ठाकुर साहब के ज़नानख़ाने में दाख़िल कर दी जाय। इसके

लिए उन्हें इनाम दिया जाता। उड़ाया हुआ माल जिस क़ीमत का होता, इनाम भी उसी के अनुसार दिया जाता था।

ठाकुर साहब के सब रिश्तेदार उनकी इन हरक़तों से उनसे नाराज़ रहते थे। प्रायः उनके घर का आना-जाना छोड़-सा दिया था। किन्तु ठाकुर साहब अपनी वासना और धन के मद से इतने दीवाने हो रहे थे कि उनके घर कोई आवे चाहे न आवे उन्हें ज़रा भी परवाह न थी।

[३]

हेतसिंह ठाकुर साहब का चचेरा भाई था। छुटपन से ही वह ठाकुर साहब का आश्रित था। ठाकुर साहब हेतसिंह पर स्नेह भी सगे भाई की ही तरह रखते थे। वह बी. ए. फाइनल का विद्यार्थी था। बड़ा ही नेक और सच्चरित्र युवक था। ठाकुर साहब के इन कृत्यों से हेतसिंह को हार्दिक घृणा थी। प्रजा पर ठाकुर साहब का अत्याचार उससे सहा न जाता था। एक दिन इसी प्रकार किसी बात से नाराज होकर उसने घर छोड़ दिया। कहाँ गया, कुछ पता नहीं। ठाकुर साहब

ने कुछ दिन तक तो उसकी खोज करवाई; फिर उन्हें इन व्यर्थ की बातों के लिए फ़ुरसत ही कहाँ थी? वे तो अपना जीवन सफल कर रहे थे।

एक वर्ष बाद एक दिन फिर वह गाँव में आया। और उसी दिन ठाकुर साहब के यहाँ एक कुम्हार की नव-विवाहिता सुन्दर बहू उड़ाकर लाई गई थी। कुम्हार के घर हाय-हाय मची हुई थी। उसी समय हेतसिंह उधर से निकले। उन्हें देखते ही कुम्हार ने उनसे अपना दुखड़ा रोया। हेतसिंह का क्रोध फिर ताजा हो गया। इसी प्रकार के एक क़िस्से से नाराज़ होकर हेतसिंह ने घर छोड़ा था। कहाँ तो वह भाई से मिलकर पिछली नाराज़ी को दूर करने आए थे, कहाँ फिर वही क़िस्सा सामने आ गया। वही प्रतिहिंसा के भाव फिर से हृदय में जागृत हो उठे। घृणा और क्रोध से उनका चेहरा लाल हो गया। जेब में हाथ डाल कर देखा रिवाल्वर भरा हुआ रखा था। जब हेतसिंह घर पहुँचे उस समय ठाकुर साहब अपने मुसाहिबों के साथ बैठे थे। हेतसिंह को देखते ही बड़े प्रसन्न होकर बोले—

'आओ भाई हेतसिंह। कहाँ थे अभी तक? बहुत

दिनों में आए। बिना कुछ कहे-सुने ही तुम कहाँ चले गये थे' ?

हेतसिंह ने ठाकुर साहब की किसी बात का उत्तर नहीं दिया। वह तो अपनी ही धुन में था, बोला—भैय्या, क्या मनका कुम्हार की बहू घर में है ? यदि हो तो आप उसे वापिस पहुँचवा दीजिए।

ठाकुर साहब की त्योरियाँ चढ़ गईं क्रोध को दबाते हुए वे बोले—

हेतसिंह तुम कल के छोकरे हो। तुम्हें इन बातों में न पड़ना चाहिये। जाओ, भीतर जाओ,, हाथ-मुंह धोकर कुछ खाओ-पियो !

हेतसिंह ने तीव्र स्वर में कहा—पर मैं क्या कहता हूँ !! मनका कुम्हार को बहू को आप वापिस पहुँचवा दीजिए।

—"मैंने एक बार तुम्हें समझा दिया कि तुम्हें मेरे निजी मामलों में दख़ल देने की जरूरत नहीं है।"

—"फिर भी मैं पूछता हूँ कि आप उसे वापिस पहुँचावेंगे या नहीं ?"

खेतसिंह गंभीरता से बोले—मैं तुम्हारी किसी बात का उत्तर नहीं देना चाहता, मेरे सामने से चले जाओ।

हेतसिंह अब न सह सके, जेब से रिवाल्वर निकाल कर लगातार तीन फायर किए किन्तु तीनों निशाने ठीक न पड़े। ठाकुर साहब ज़रा ही इधर-उधर हो जाने से साफ बच गये। हेतसिंह उसी समय पकड़ा गया। हत्या करने की चेष्टा के अपराध में उसे ५ साल की सख़्त सज़ा हो गई। इसके कुछ ही दिन बाद मैनपुरी षड्यंत्र केस पर से उसके ऊपर दूसरा मामला भी चलाया गया जिसमें उसे सात साल की सज़ा और हो गई। ठाकुर साहब का बाल भी बांका न हो सका।

[४]

यद्यपि ठाकुर साहब के घर उनके कोई भी रिश्तेदार न आते थे किन्तु फिर भी ठाकुर साहब कभी कभी अपने रिश्तेदारों के यहाँ हो आया करते थे। ठाकुर साहब की बुआ की लड़की चम्पा का विवाह था। एक मामूली छपा हुआ निमंत्रण पत्र पाकर ही वे विवाह में जाने को तैयार हो गये। चम्पा ने जब सुना कि ठाकुर साहब आए हैं तो उसने उन्हें अन्दर बुलवा भेजा। चम्पा

को हेतसिंह के जेल जाने से बड़ा कष्ट हो ही रहा था। वह इस विषय में ठाकुर साहब से कुछ पूछना चाहती थी।

चम्पा के निडर स्वभाव और उसकी स्पष्ट-वादिता से ठाकुरसाहब अच्छी तरह परिचित थे। पहिले तो वे चम्पा के सामने जाने में कुछ झिझके फिर आखिर में उन्हें जाना ही पड़ा। न जाने क्यों वे चम्पा का लिहाज भी करते थे। साधारण कुशल प्रश्न के पश्चात् चम्पा ने उनसे हेतसिंह के विषय में पूँछा। ठाकुर साहब ने अफ़सोस ज़ाहिर करते हुए कहा—"क्या करें भूल तो हो ही गई।"

"दादा, अब आप इन आदतों को छोड़ दें तो अच्छा हो।"

कुछ अनभिज्ञता प्रकट करते हुए ठाकुर साहब बोले—कौन सी आदतें बेटी!

चम्पा ने मार्मिक दृष्टि से उनकी ओर देखा और चुप हो गई। ठाकुर साहब कुछ झेंप से गए बोले—बेटी! मैं कुछ नहीं करता, तुझे विश्वास न हो तो चल कर एक बार अपनी आँखों से देख ले। वैसे तो

लोग न जाने कितनी झूठी खबरें उड़ाया करेंगे पर तुझे तो विश्वास न करना चाहिए।

× × × ×

चम्पा का विवाह हो गया। चम्पा ससुराल गई और ठाकुर साहब आए अपने घर।

घर आने पर भी चम्पा की वह मार्मिक चोट उनके हृदय पर रह रह कर आघात करती ही रही। बहुत बार उन्होंने सोचा कि मैं इन आदतों को क्यों न छोड़ दूँ ? जीवन में न जाने कितने पाप किए हैं अब उनका प्रायश्चित भी तो करना ही चाहिए। अब नरेन्द्र (उनका लड़का) भी समझदार हो गया है उसके सिर पर घर द्वार छोड़कर क्यों न कुछ दिन तक पवित्र काशी में जाकर गंगा किनारे भगवद् भजन करूँ ? आधी उम्र तो जा ही चुकी है। क्या जीवन भर यही करता रहूँगा ? मेरे इन आचरणों का प्रभाव नरेन्द्र पर भी तो पड़ सकता है। किन्तु पानी के बुलबुलों के समान यह विचार उनके दिमाग में क्षण भर के लिए आते और चले जाते। उनका कार्य-क्रम ज्यों का त्यों जारी था।

[५]

विवाह के कुछ दिन बाद चम्पा के पति नवलकिशोर के मित्र सन्तोष ने नवलकिशोर को चम्पा समेत अपने घर आने का निमंत्रण दिया। और यह लोग सन्तोष कुमार को बिना किसी प्रकार की सूचना दिए ही उसके घर के लिए रवाना हो गए; सूचना न देकर यह लोग अचानक पहुँचकर सन्तोष कुमार और बूढ़ी अम्मा को आश्चर्य में डाल देना चाहते थे। चम्पा और नवलकिशोर अलीगढ़ के लिए रवाना हो गए। रास्ता बड़े आराम से कटा। गर्मी तो नाम को न थी। रिमझिम-रिमझिम बरसता हुआ पानी बड़ा ही सुहावना लग रहा था।

जब ये लोग अलीगढ़ स्टेशन पर उतरे, उस समय कुछ अँधेरा हो चला था। गाँव स्टेशन से पाँच-छह मील दूर था; इसलिये नवल ने सोचा कि स्टेशन पर ही भोजन करके तब गांव के लिए रवाना होंगे। चम्पा को सामान के पास बिठाकर नवल भोजन की तलाश में निकला। हलवाई की दुकान पर सब चीजें तो ठीक थीं, पर पूरियाँ ज़रा ठंडी थीं। वह ताजी पूरियाँ बनवाने के लिये वहीं ठहर गया।

इधर सामान के पास अकेली बैठी-बैठी चम्पा का जी ऊबने लगा। वह एक पुस्तक निकाल कर पढ़ने लगी। थोड़ी देर के बाद ही एक आदमी ने आकर उससे कहा कि "बाबू जी होटल में बैठे हैं आपको बुला रहे हैं।"

'पर वे तो खाना यहीं लाने वाले थे न' ?

'होटल यहाँ से क़रीब ही है। वे कहते हैं कि आप वहीं चल के भोजन कर लें। कच्चा खाना यहाँ लाने में सुभीता न पड़ेगा।'

उठते-उठते चम्पा ने कहा—सामान के पास कौन रहेगा ?

'सामान तो कुली देखता रहेगा, आप फिकर न करें; १० मिनट में तो आप वापिस आ जांयगी।' क्षण भर तक चम्पा ने न जाने क्या सोचा; फिर उस आदमी के साथ चल दी।

स्टेशन से बाहर पहुँचते ही उस आदमी ने पास के एक मकान की तरफ़ इशारा करके कहा, "वह सामने होटल है; बाबू जी वहीं बैठे हैं।"

चम्पा ने जल्दी-जल्दी पैर बढ़ाए। पास ही एक मोटर

खड़ी थी उस आदमी ने पीछे से चम्पा को उठाकर मोटर पर डाल दिया; मोटर नौ दो ग्यारह हो गई। चम्पा का चीखना-चिल्लाना कुछ भी काम न आया।

आध घंटे के बाद जब नवल खाना लेकर लौटा तो चम्पा का कहीं पता न था। इधर-उधर बहुत खोज की। गाड़ी का एक-एक डिब्बा ढूंढ़ डाला, पर जब चम्पा कहीं न मिली, तो लाचार हो पुलिस में इत्तिला देनी पड़ी। परदेश में वह और कर ही क्या सकता था? किन्तु वहाँ की पुलिस भी, ठाकुर साहब द्वारा कुछ चाँदी के सिक्कों के बल पर, सब कुछ जानती हुई अनजान बना दी जाती थी। फिर भला एक परदेशी की क्या सुनवाई होती? जब नवल किसी भी प्रकार चम्पा का पता न लगा सका, तो फिर वह संतोषकुमार के गाँव भी न जा सका। वहीं धर्मशाले में ठहर कर चम्पा की खोज करने लगा।

[६]

मोटर पर चम्पा बेहोश हो गई थी। होश आने पर उसने अपने आपको एक बड़े भारी मकान में क़ैद पाया। मकान की सजावट देखकर किसी बहुत बड़े आदमी का

घर मालूम होता था। कमरे में चारों तरफ़ चार बड़े-बड़े शीशे लगे थे। दरवाज़ों और खिड़कियों पर सुन्दर रेशमी परदे लटक रहे थे। दीवालों पर बहुत-सी अश्लील और साथ ही सुन्दर तसवीरें लगी हुई थीं। एक तरफ़ एक बढ़िया ड्रेसिंग टेबिल रखा था, जिस पर शृङ्गार का सब सामान सजाया हुआ था, बड़ी-बड़ी आलमारियों में क़ीमती रेशमी कपड़े चुने हुए रखे थे। ज़मीन पर दरी थी; दरी पर एक बहुत बढ़िया क़ालीन बिछा था। क़ालीन पर दो-तीन मसनद क़रीने से रखे थे। आस-पास चार-छै आराम कुर्सियां और कोच पड़े थे। चम्पा मसनद पर गिर पड़ी और खूब रोई। थोड़ी देर बाद दरवाज़ा खुला और एक बुढ़िया खाने की सामग्री लिए हुए अन्दर आई। भोजन रखते हुए वह बोली, यह खाना है खालो; अब रो पीटकर क्या करोगी? यह तो, यहाँ का, रोज़ ही का कारबार है।

चम्पा ने भोजन को हाथ भी न लगाया। वह रोती ही रही और रोते-रोते कब उसे नींद आगई, वह नहीं जानती। सबेरे जब उसकी नींद खुली, तब दिन चढ़ आया था। वहाँ पर एक स्त्री पहिले ही से उसकी कंघी चोटी करने के

लिए उपस्थित थी। उसने चम्पा के सिर में कंघी करनी चाही। किन्तु एक झटके से चम्पा ने उसे दूर कर दिया। वह स्त्री बड़बड़ाती हुई चली गई।

इस प्रकार भूखी-प्यासी चम्पा ने एक दिन और दो रातें बिता दीं। तीसरे दिन सवेरे उठकर चम्पा शून्य दृष्टि से खिड़की से बाहर सड़क की ओर देख रही थी। किसी के पैरों की आहट सुनकर ज्यों ही उसने पीछे की ओर मुड़कर देखा, वह सहसा चिल्ला उठी "दादा" !!

ठाकुर खेतसिंह के मुँह से निकल गया "बेटी" !!

× × ×

उस दिन से फिर उस गाँव की किसी स्त्री पर कोई कुदृष्टि न डाल सका।

दृष्टिकोण

[१]

निर्मला विश्व प्रेम की उपासिका थी। संसार में सब के लिए उसके भाव समान थे। उसके हृदय में अपने पराये का भेद-भाव न था। स्वभाव से ही वह मिलनसार, 'सरल, हंसमुख और नेक थी। साधारण पढ़ी लिखी थी। अंगरेजी में शायद मैट्रिक पास थी। परन्तु हिन्दी का उसे अच्छा ज्ञान था। साहित्य के संसार में उसका आदर था, और काव्यकुंज की वह एक मनोहारिणी कोकिला थी।

निर्मला का जीवन बहुत निर्मल था। वह दूसरों के आचरण को सदा भलाई की ही नज़र से देखती। यदि

कोई उसके साथ बुराई भी करने आता तो निर्मला यही सोचती, कदाचित उद्देश्य बुरा न रहा हो; भूल से ही उसने ऐसा किया हो।

पतितों के लिए भी उसका हृदय उदार और क्षमा का भंडार था। यदि वह कभी किसी को कोई अनुचित काम करते देखती, तो भी वह उसका अपमान या तिरस्कार कभी न करती। प्रत्युत मधुरतर व्यवहारों से ही वह उन्हें समझाने और उनकी भूलों को उन्हें समझा देने का प्रयत्न करती। कठोर वचन कह के किसी का जी दुखाना निर्मला ने सीखा ही न था। किन्तु इसके साथ ही साथ, जितनी वह नम्र, सुशील और दयालु थी उतनी ही वह आत्माभिमाननी, दृढ़निश्चयी और न्याय-प्रिय भी थी। नौकर-चाकरों के प्रति भी निर्मला का व्यवहार बहुत दया-पूर्ण होता। एक बार की बात है, उसके घर की एक कहारिन ने तेल चुराकर एक पत्थर की आड़ में रख दिया था। उसकी नीयत यह थी कि घर जाते समय वह बाहर के बाहर ही चुपचाप लेती चली जायगी। किसी कार्यवश रमाकान्त जी उसी समय वहाँ पहुँच गए; तेल पर उनकी दृष्टि पड़ी; पत्नी को पुकारकर पूछा—"निर्मला यहाँ तेल किसने रखा है?"

निर्मला ने पास ही खड़ी हुई कहारिन की ओर देखा; उसके चेहरे की रंगत स्पष्ट बतला रही थी कि यह काम उसी का है। किन्तु निर्मला ने पति को जवाब दिया—

"मैंने ही रख दिया होगा, उठाने की याद न रही होगी ?"

पति के जाने के बाद निर्मला ने कटोरे में जितना तेल था उतना ही और डालकर कहारिन को दे दिया और बोली—"जब जिस चीज़ की ज़रूरत पड़े, मांग लिया करो, मैंने कभी देने से इन्कार तो नहीं किया ?"
जो प्रभाव, कदाचित् डांट-फटकार से भी न पड़ता वह निर्मला के इस मधुर और दयापूर्ण वर्ताव से पड़ा।

बाबू रमाकान्त जी का स्वभाव इसके बिल्कुल विपरीत था। थे तो वे डबल एम० ए०, एक कालेज के प्रोफ़ेसर, साहित्य-सेवी और देशभक्त, उज्वल चरित्र के नेक और उदार सज्जन पर फिर भी पति-पत्नी के स्वभाव में बहुत विभिन्नता थी। कोई चाहे सच्चे हृदय से भी उनकी भलाई करने आता तो भी उसमें उन्हें कुछ न कुछ बुराई ज़रूर देख पड़ती। वे सोचते इसकी तह में अवश्य ही कुछ न कुछ भेद है। कुछ न कुछ स्वार्थ होगा

तभी तो यह भलमनसाहत दिखाने आया है। नहीं तो मेरे पास आकर इसे ऐसी बात करने की आवश्यकता ही क्या पड़ी थी ?

पतितों को वे बड़ी घृणा की नज़र से देखते; उनकी हँसी उड़ाते, गिरने वाले को एक धक्का देकर वे गिरा भले ही दें, किन्तु बाह पकड़ कर उसे ऊपर उठा के वे अपना हाथ अपवित्र नहीं कर सकते थे। वे पतितों की छाया से भी दूर-दूर रहते थे। अपने निकट सम्बन्धियों की भलाई करने में यदि किसी दूसरे की कुछ हानि भी हो जाय तो इसमें उन्हें अफ़सोस न होता था। वे सज्जन होते हुए भी सज्जनता के कायल न थे। कोई उनके साथ बुराई करता तो उसके साथ उससे दूनी बुराई करने में उन्हें संकोच न होता था।

पति-पत्नी दोनों को अलग खड़ा करके यदि ढूंढा जाता तो अवगुण के नाम से उनमें तिल के बराबर भी धब्बा न मिलता। बाह्य जगत में उनकी तरह सफल जोड़ा, उनके सदृश सुखी जीवन कदाचित् बहुत कम देख पड़ता। दूसरों को उनके सौभाग्य पर ईर्षा होती थी। उनमें आपस में कभी किसी प्रकार का झगड़ा या

अप्रिय व्यवहार न होता। फिर भी दोनों में पद-पद पर मतभेद होने के कारण उनका जीवन सुखी न रहने पाता था।

[२]

शाम-सुबह, निर्मला दोनों समय घर के काम-काज के बाद मील दो मील तक घूमने के लिए चली जाती थी। इससे शुद्ध वायु के साथ-साथ कुछ समय का एकान्त, उसे कोई नई बात सोचने या लिखने के लिए सहायक होता। किन्तु निर्मला की सास को बहू की यह हवा-खोरी न रुचती थी। उन्हें यह सन्देह होता कि यह घूमने के बहाने न जानें कहाँ-कहाँ जाती होगी; न जाने किससे किससे मिलकर क्या क्या बातें करती होगी। प्रायः वह देखा करतीं कि निर्मला किधर से जाती है और कहाँ से लौटती है? एक बार उन्होंने पूछा भी कि—"तुम गईं तो इधर से थीं, उस ओर से कैसे लौटीं?"

निर्मला इसका क्या जवाब देती, हँसकर रह जाती। किन्तु निर्मला की सास बहू की इस चुप्पी का दूसरा ही अर्थ लगातीं। उन्हें निर्मला का आचरण पसन्द न था।

उसके चरित्र पर उन्हें पद पद पर सन्देह होता; किन्तु इन मामलों में जब वे स्वयं रमाकान्त को ही उदासीन पातीं तो उन्हें भी मन मसोस कर रह जाना पड़ता था। क्योंकि रमाकान्त के सामने भी निर्मला घूमने निकल जाती और घंटों बाद लौटती। अन्य पुरुषों से उनके सामने भी स्वच्छन्दतापूर्वक बातचीत करती, परन्तु रमाकान्त इस पर उसे ज़रा भी न दबाते।

किन्तु कभी कभी जब उनसे सहन न होता तो वे रमाकान्त से कुछ न कुछ कह बैठतीं तो भी वे यही कह कर कि—"इसमें क्या बुराई है" टाल देते। उनकी समझ में रमाकान्त इस प्रकार मां की बात न मानने के लिए ही पत्नी को शह देते थे। इसलिए वे प्रत्यक्ष रूप से तो निर्मला को अधिक कुछ न कह सकती थीं किन्तु अप्रत्यक्ष रूप से, कुत्ते, बिल्ली के बहाने ही सही, अपने दिल का गुबार निकाला करतीं। निर्मला सब सुनती और समझती किन्तु वह सुनकर भी न सुनती और जानकर भी अनजान बनी रहती।

वह अपना काम नियम-पूर्वक करती रहती; इन बातों का उसके ऊपर कुछ भी प्रभाव न पड़ता। कभी-कभी

उसे कष्ट भी होता किन्तु वह उसे प्रकट न होने देती। वह सदा प्रसन्न रहती, यहाँ तक कि उसके चेहरे पर शिकन तक न आती। वह स्वयं किसी की बुराई न करना चाहती थी; उसके विरुद्ध चाहे कोई कुछ भी करता रहे।

[३]

एक दिन कालेज से लौटते ही रमाकान्त ने कहा—

"आज एक बड़ा विचित्र किस्सा हो गया, निर्मला !"

"क्या हुआ" ? निर्मला ने उत्सुकता से पूछा।

घृणा का भाव प्रकट करते हुए रमाकान्त बोले—"हुआ क्या ? यही कि तुम्हारी बिट्टन को न जाने किससे गर्भ रह गया है। और अब चार-पांच महीने का है। बात खुलते ही आज वह घर से निकाल दी गई है। उसके मायके में तो कदाचित् कोई है ही नहीं। सड़क पर बैठी रो रही है।"

बिट्टन बाल-विधवा थी। वह जन्म ही की दुखिया थी, इस लिए निर्मला सदा उससे प्रेम और आदर का व्यवहार करती थी। बिट्टन की करुणा जनक अवस्था से निर्मला कातर हो उठी। उसने रमाकान्त जी से

पूछा—"फिर उसका क्या होगा ? अब वह कहाँ जायगी ?"

रमाकान्त जी ने उपेक्षा से कहा "कहाँ जायगी मैं क्या जानूँ, जैसा किया है वैसा भोगेगी।"

निर्मला के मुँह से एक ठंडी आह निकल गई। कुछ देर बाद न जाने क्या सोचकर वह दृढ़ स्वर में बोली—

"तो मैं जाती हूँ; उसे लिवा लाती हूँ; जब तक कोई दूसरा प्रबन्ध न हो जायगा, वह मेरे साथ रही आवेगी।"

घबरा कर रमाकान्त बोले—"नहीं नहीं, ऐसी बेवक़ूफी करना भी मत। उसे अपने घर लाकर क्या अपनी बदनामी करवानी है ? तुम्हें तो कोई कुछ न कहेगा, सब लोग मुझे ही बदनाम करेंगे।"

निर्मला ने दयार्द्र भाव से कहा—अरे! तो इतनी छोटी-छोटी सी बातों से क्यों डरते हो ? किसी की भलाई करने में भी लोग बदनाम करेंगे तो करने दो। परमात्मा तो हमारे हृदय को पहिचानेगा। मुझे तो उसकी अवस्था पर बड़ी दया आती है। तुम कहो तो मैं अभी जाकर उसे लिवालाऊँ।

रमाकान्तके कुछ बोलने के पहिले ही उनकी माँ बोल

उठीं—"ऐसी औरतों का तो इसे बड़ा दर्द होता है। घर में बुलाने जा रही है। जाय कहीं भी मुँह काला करे। पर याद रखना, ख़बरदार! जो उसे घर में बुलाया तो? मैं अभी से कहे देती हूँ। अगर उस छूत ने घर में पैर भी रक्खा तो अच्छा न होगा।"

निर्मला धीरे से बोली—"अगर वह आ ही गई तो फिर क्या करोगी, अम्मा जी?"

अम्मा जी क्रोध से तिलमिला सी उठीं तड़प कर बोलीं—"मार के लकड़ी पैर तोड़ दूँगी, और क्या करूँगी? तू तो रामू के सिर चढ़ाने से इतनी बढ़ बढ़ के बोल रही है सो मैं रामू को डरती नहीं। तेरा और तेरे साथ रामू का भी मिजाज ठंडा कर दूँगी। ऐसी बज्ज़ात औरतों की परछाईं में भी रहना पाप है। उसे घर में बुलाने जा रही है।

निर्मला ने कहा—"पर अम्मा जी यदि वह आई तो मैं दूसरों की तरह उसे दरवाज़े पर से दुतकार तो न दूँगी। मैं यह तो कहती ही नहीं कि उसे सदा ही अपने घर में रखा जाय; पर हाँ, जब तक उसका कोई प्रबन्ध न हो जाय तब तक अगर वह घर के एक कोने में पड़ी रही तो

कोई हानि तो न होगी। और कौन वह हमारे चूल्हे चौके में जायगी? आखिर विचारी स्त्री ही तो है। भूलें किससे नहीं होतीं?"

अम्मा जी क्रोध में आकर बोलीं—"एक बार कह दिया कि उस राँड को घर में न घुसने दूंगी। बार बार जवान चलाए ही जा रही है। वह तो अपनी कोई नहीं है कोई अपनी सगी भी ऐसा करती तो मैं लात मार कर निकाल देती। अब बार बार पूँछ कर मेरे गुस्से को न बढ़ा, नहीं तो अच्छा न होगा।"

निर्मला ने नम्रता से कहा—"पर तुम्हारा क्या बिगाड़ेगी, अम्मा जी? मेरे कमरे में पड़ी रहेगी और तुम चाहो तो ऐसा प्रबन्ध कर दूं कि तुम्हें उसकी सूरत भी न दिखे। और फिर अभी से उस पर इतनी बहस ही क्यों? वह तो तब की बात है जब वह हमसे आश्रय माँगने आवे।"

अम्मा जी का क्रोध बढ़ा और वे कहने लगीं—"तेरे कमरे में रहेगी और मुझे उसकी सूरत न दिखेगी तो क्या दूसरी बात हो जायगी। कैसी उलट-फेर के बात कहती है! तुझे अपने पढ़ने लिखने का घमंड हो

तो उस घमंड में न भूली रहना। ऐसी पढ़ी-लिखियों को मैं कौड़ी के मोल के बराबर भी नहीं समझती। धर्म-कर्म से तो सदा सौ गज़ दूर, और ऐसी कुजात औरतों पर दया करके चली है धर्म कमाने। वाह री औरत! जिसे मुहल्ले भर में किसी ने अपने घर न रक्खा; उसे यह अपने घर में रखेगी। तू ही तो दुनिया भर में अनोखी है न? सब दूसरों को दिखाने के लिए कि बड़ी दयावन्ती है? जो भीतर का हाल न जाने उसके सामने इतनी बन। घर वालों को तो काटने दौड़ेगी और बाहर वालों को गले लगाती फिरेगी।

निर्मला भी ज़रा तेज़ होकर बोली—"तो अम्मा जी मुझे इतनी खरी-खोटी क्यों..............?" बीच ही में निर्मला को डाँट कर चुप कराते हुए रमाकान्त बोले—तो तुम चुप न रहोगी निर्मला? कब से सुन रहा हूँ कि ज़बान कैसी कैंची की तरह चल रही है। तुम्हारे हृदय में बिट्टन के लिए बड़ी दया है, और तुम उसके लिए मरी जाती हो; तो जाओ उसे लेकर किसी धर्मशाले में रहो। मेरे घर में तो उसके लिए जगह नहीं है।"

निर्मला को भी अब क्रोध आ चुका था; उसने भी

उसी प्रकार तेज स्वर में कहा—"तो क्या इस घर में मेरा इतना भी अधिकार नहीं है कि यदि मैं चाहूँ तो किसी को एक दो दिन के लिए भी ठहरा सकूँ ? अभी उस दिन, तुम लोगों ने बाबू राधेलाल जी का इतना आदर सम्मान क्यों किया था ? उनके चरित्र के बारे में कौन नहीं जानता ? उनके घर ही में तो वेश्या रहती है; सो भी मुसलमानिनी और वह उसके हाथ का खाते-पीते भी हैं। फिर बिचारी बिट्टन ने क्या इससे भी ज्यादः कुछ अपराध किया है ?"

अम्मा जी गरज उठीं; अब उनका साहस और बढ़ गया था; क्योंकि अभी-अभी रमाकान्त जी निर्मला को डांट चुके थे। वे बोलीं—"चुप रह नहीं तो जीभ पकड़ कर खींच लूँगी। बड़ी बिट्टन वाली बनी है। बिचारी बिट्टन, बिचारी बिट्टन। तू भी बिट्टन सरीखी होगी, तभी तो उसके लिए मरी जाती है, न ? जो सती होती हैं वे तो ऐसी औरतों की परछाईं भी नहीं छूतीं। और तू राधेलाल के लिए क्या कहा करती है वह, तो फूल पर का भंवरा है। आदमी की जात है, उसे सब शोभा देता है, एक नहीं बीस औरतें रख ले। पर औरत आदमी की बराबरी कैसे कर सकती है ?

निर्मला ने सतेज और दृढ़ स्वर में कहा—"बस अम्मा जी अब मैं ज्यादः न सुन सकूंगी। मैं बिट्टन सरीखी होऊँ या उससे भी बुरी; किन्तु इस समय वह निराश्रिता है, कष्ट में है, मनुष्यता के नाते मैं उसे आश्रय देना अपना धर्म समझती हूँ और दूंगी।"

अब रमाकान्त जी को बहुत क्रोध आगया था, वे कमरे से निकल कर आंगन में आगये और आग्नेय नेत्रों से निर्मला की ओर देखते हुए बोले—क्या कहा? तुम बिट्टन को इस घर में आश्रय दोगी?

निर्मला भी दृढ़ता से बोली—जी हाँ, जितना इस घर में आपका अधिकार है, उतना ही मेरा भी है। यदि आप अपने किसी चरित्रहीन पुरुष मित्र को आदर और सम्मान के साथ ठहरा सकते हैं; तो मैं भी किसी असहाय अबला को कम से कम आश्रय तो दे ही सकती हूँ।

रमाकान्त निर्मला के और भी नज़दीक जाकर कठोर स्वर में बोले—मेरी इच्छा के विरुद्ध तुम यहाँ उसे आश्रय दोगी।

निर्मला ने भी उसी स्वर में उत्तर दिया—जी हाँ, मेरी

इच्छा का भी तो कोई मूल्य होना चाहिए; या मेरी इच्छा सदा ही आपकी इच्छा के सामने कुचली जाया करेगी।

अब रमाकान्त जी अपने क्रोध को न सम्हाल सके और पत्नी के मुँह पर तीन-चार तमाचे तड़ातड़ जड़ दिए। निर्मला की जबान बन्द हो गई। बाबू रमाकान्त क्रोध और ग्लानि के मारे कमरे में जाकर अन्दर से साँकल लगा कर सो रहे। अम्मा जी दरवाज़े पर रखवाली के लिए बैठ गईं कि कहीं बिट्टन किसी दरवाज़े से भीतर न आ जाय।

[४]

इस घटना के लगभग एक घंटे बाद, बिट्टन को जब कहीं भी आश्रय न मिला, तब उसने एक बार निर्मला के पास भी जाकर भाग्य की परीक्षा करनी चाही। दरवाज़े पर ही उसे अम्मा जी मिलीं। बिट्टन को देखते ही वे कड़ी ललकार के साथ बोलीं—"कौन है? बिट्टन! दूर! उधर ही रहना, खबरदार जो कहीं देहली के भीतर पैर रक्खा तो!" बिट्टन बाहर ही रुक गई। निर्मला पास पहुँच कर शान्त और कोमल स्वर में यह कहती हुई कि—"बिट्टन! बाहर ही बैठो बहिन; मैं वहीं तुम्हारे पास आती हूँ,

देहली से बाहर निकल गई। बिट्टन और निर्मला दोनों बड़ी देर तक लिपटकर रोती रहीं।

निर्मला ने कहा—"तुम्हारी ही तरह मैं भी बिना घर की हूँ बहिन! यदि इस घर पर मेरा कुछ भी अधिकार होता तो मैं तुम्हें इस कष्ट के समय कहीं भी न जाने देती। क्या करूँ, विवश हूँ। किन्तु तुम मेरा यह पत्र लेकर मेरे भाई ललितमोहन के पास जाओ; वे तुम्हारा सब प्रबन्ध कर देंगे। उनका स्थान तो तुम जानती ही हो; पर रात के समय पैदल जाना ठीक नहीं। यह रुपया लो; तांगा कर लेना। ईश्वर पर विश्वास रखना बहिन! जिसका कोई नहीं होता, उसका साथ परमात्मा देता है।

निर्मला ने दस रुपये बिट्टन को दिए; वह पत्र लेकर चली गई। निर्मला घर में आई; एक चटाई डाल कर बाहर बरामदे में ही पड़ रही। सवेरे उसकी आँख उस समय खुली जब रमाकान्त उठ चुके थे और उनकी मां नहा कर पूजा करने की तैयारी कर रहीं थीं।

निर्मला नित्य की तरह उठ कर घर का सब काम करने लगी; जैसे शाम की घटना की उसे कुछ याद ही न हो। यदि वह मार खाने के बाद कुछ अधिक बकझक करती

या रोती चिल्लाती तो कदाचित् अपनी इस हरकत पर रमाकान्त जी को इतना पश्चात्ताप न होता, जितना अब हो रहा था। उन्हें बार-बार ऐसा लगता कि जैसे निर्मला ठीक थी और वे भूल पर थे। उनसे ऐसी भूल और कभी न हुई थी। कल न जाने क्यों और कैसे वे निर्मला पर हाथ चला बैठे थे। उनका व्यवहार उन्हीं को सौ-सौ बिच्छुओं के दंशन की तरह पीड़ा पहुँचा रहा था। वे अवसर ढूंढ़ रहे थे कि कहीं निर्मला उन्हें एकान्त में मिल जाय तो वे पश्चात्ताप के आँसुओं से उसके पैर धो दें, और उससे क्षमा मांग लें। किन्तु निर्मला भी सतर्क थी; वह ऐसा मौका ही न आने देती थी। वह बहुत बच-बच कर घर का काम कर रही थी। उसके चेहरे पर कोई विशेष परिवर्तन न था, न तो यही प्रकट होता था कि खुश है और न यही कि नाराज है। हाँ! उसमें एक ही परिवर्तन था कि अब उसके व्यवहार में हुकूमत की झलक न थी। वह अपने को उन्हीं दो-तीन नौकरों में से एक समझती थी, जो घर में काम करने के लिए होते हैं; किन्तु उनका कोई अधिकार नहीं होता।

कदम्ब के फूल

[१]

"भौजी ! लो मैं लाया।"

"सच ले आए ? कहाँ मिले ?"

"अरे ! बड़ी मुश्किल से ला पाया, भौजी !"

"तो मजदूरी ले लेना।"

"क्या दोगी ?"

"तुम जो मांगो।"

"पर मेरी मांगी हुई चीज़ मुझे दे भी सकोगी ?"

"क्यों न दे सकूँगी ? तुम मेरी वस्तु मेरे लिए ला

सकते हो तो क्या मैं तुम्हारी इच्छित वस्तु तुम्हें नहीं दे सकती ?"

"नहीं भौजी न दे सकोगी; फिर क्यों नाहक कहती हो?"

"अब तुम्हीं न लेना चाहो तो बात दूसरी है; पर मैंने तो कह दिया कि तुम जो माँगोगे मैं वही दूँगी।"

"अच्छा अभी जाने दो, समय आने पर मांग लूंगा" कहते हुए मोहन ने अपने घर की राह ली। दूर से आती हुई भामा की सास ने मोहन को कुछ दोने में लिए हुए घर के भीतर जाते हुए देखा था। किन्तु वह ज्योंही नज़दीक पहुँची मोहन दूसरे रास्ते से अपने घर की तरफ़ जा चुका था। वे मोहन से कुछ पूछ न सकीं; पर उन्होंने यह अपनी आँखों से देखा था कि मोहन कुछ दोने में लाया है; किन्तु क्या लाया है यह न जान सकीं।

[२]

घर आते ही उन्होंने बहू से पूछा—"मोहन दोने में क्या लाया था" ?

भामा मन ही मन मुस्कुराई बोली—मिठाई।

बुढ़िया क्रोध से तिलमिला उठी; बोली—"इतना खाती

है; दिन भर बकरी की तरह मुँह चला ही करता है; फिर भी पेट नहीं भरता। बाजार से भी मिठाई मंगा-मंगा के खाती है। अभी मैं न देखती तो क्या तू कभी बतलाती ?"

भामा—(मुस्कराते हुए) "तो बतलाती क्यों ? कुछ बतलाने के लिए थोड़े ही मंगवाई थी ?"

—"क्यों क्या मैं घर में कोई चीज ही नहीं हूँ ? तेरे लिए तो मिठाई के लिए पैसे हैं। मैं चार पैसे दान-दक्षिणा के लिए मांगू तो सदा मुँह से नाहीं निकलती है। तेरा आदमी है, तो मेरा भी तो बेटा है। क्या उसकी कमाई में मेरा कोई हक़ ही नहीं। मुझे तो दो बार सूखी रोटी छोड़ कर कुछ भी न नसीब हो और तू मिठाई मंगा-मंगा के खाए। कर ले जितना तेरा जी चाहे। भगवान तो ऊपर से देख रहा है। वह तो सज़ा देगा ही।"

—(मुस्कराते हुए) "क्यों कोस रही हो मां जी ! मिठाई एक दिन खा ही ली तो क्या हो गया ? अभी रखी है; तुम भी ले लेना।"

—"चल रहने दे। अब इन मीठे पुचकारों से

किसी और को बहकाना; मैं तेरे हाल सब जानती हूँ। तू समझती होगी कि तू जो कुछ करती है, वह कोई नहीं जानता। मैं तो तेरी नस-नस पहिचानती हूँ। दुनियां में बहुत सी औरतें देखी हैं, पर सब तेरे तले-तले।"

—(मुस्कराते हुए) "सब मेरे तले-तले न रहेंगी तो करेंगी क्या ? मेरी बराबरी कर लेना मामूली बात नहीं है। मैं ऐसी-वैसी थोड़े हूँ।"

—"चल चल; बहुत बड़प्पन न बघार; नहीं तो सब बड़प्पन निकाल दूंगी।"

भामा अब कुछ चिढ़ गई थी, बोली—"बड़प्पन कैसे निकालोगी मां जी, क्या मारोगी ?" माजी को और भी क्रोध आ गया और बोलीं—"मारूंगी भी तो मुझे कौन रोक लेगा ? मैं गंगा को मार सकती हूँ, तो क्या तुझे मारने में कोई मेरा हाथ पकड़ लेगा ?"

—"मारो, देखूं कैसे मारती हो ? मुझे वह बहू न समझ लेना जो सास की मार चुपचाप सह लेती हैं।"

—"तो क्या तू भी मुझे मारेगी ? बाप रे बाप ! इसने तो घड़ी भर में मेरा पानी उतार दिया। मुझे मारने कहती है। आने दे गंगा को मैं कहती हूँ कि भाई तेरी स्त्री की मार सह कर अब मैं घर में न

रह सकूँगी; मुझे अलग झोपड़ा डाल दे; मैं वहीं पड़ी रहूँगी। जिस घर में बहू सास को मारने के लिए खड़ी हो जाय वहाँ रहने का धरम नहीं। यह कहते-कहते मा जी ज़ोर-ज़ोर से रोने लगीं।"

भामा ने देखा कि बात बहुत बढ़ गई; अतः वह बोली—"मैंने तुम्हें मारने को तो नहीं कहा मां जी! क्यों झूठमूठ कहती हो। हां, मैं मार तो चुपचाप किसी की न सहूँगी। अपने मां-बाप की नहीं सही तो किसी और की क्या सहूँगी?

"चुपचाप न सहेगी तो मुझे भी मारेगी न? वही बात तो हुई। यह मखमल में लपेट-लपेट कर कहती है तो क्या मेरी समझ में नहीं आता।"

मांजी के ज़ोर-ज़ोर से रोने के कारण आसपास की कई स्त्रियां इकट्ठी हो गईं। कई भामा की तरफ़ सहानुभूति रखने वाली थीं कई मांजी की तरफ़; पर इस समय मांजी को फूटफूट कर रोते देखकर सब ने भामा को ही भला-बुरा कहा। सब मांजी को घेरकर बैठ गईं। भामा अपराधिनी की तरह घर के भीतर चली गई। भामा ने सुना मांजी आसपास बैठी हुई स्त्रियों से कह रही थीं—आप तो दोना भर-भर मिठाई मंगा-मंगा कर

खाती है । और मैंने कभी अपने लिए पैसे-धेले की चीज़ के लिए भी कहा तो फ़ौरन ही टका-सा जवाब दे देती है, कहती है पैसा ही नहीं है। इसके नाम से पैसे आ जाते हैं; मेरे नाम से कंगाली छा जाती है। किसी भी चीज़ के लिए तरस-तरस के मांग-मांग के जीभ घिस जाती है; तब जी में आया तो ला दिया नहीं तो कुत्ते की तरह भूंका करो। यह मेरा इस घर में हाल है। आज भी दोना भर मिठाई मंगवाई है। मैंने ज़रा ही पूंछा तो मारने के लिए खड़ी हो गई। कहती है मेरे आदमी की कमाई है, खाती हूँ; किसी के बाप का खाती हूँ क्या? उसका आदमी है तो मेरा भी तो बेटा है, उसका १२ आने हक़ है तो मेरा ४ आने तो होगा।"

पड़ोस की एक दूसरी बुढ़िया बोली—"राम राम! यही पढ़ी-लिखी होशयार हैं। पढ़ी-लिखी हैं तो क्या हुआ अक़ल तो कौड़ी के बराबर नहीं है। तुमने भी नौ महीने पेट में रखा बहिन! तुम्हारा तो सोलह आने हक़ है। बहू को, बेटा मां के लिए लौंडी बनाकर लाता है; वह तुम्हारे पैर दबाने और तुम्हारी सेवा करने के लिए हैं। हमारा नन्दन तो जब तक बहू मेरे पैर नहीं दबा लेती, उसे अपनी कोठरी के अन्दर ही नहीं आने देता।"

—"अपना ही माल खोटा हो तो परखने वाले का क्या-दोष, बहिन ! बेटा ही सपूत होता तो बहू आज मुझे मारने दौड़ती।"

[३]

गंगाप्रसाद गाँव की प्रायमरी पाठशाला के दूसरे मास्टर की जगह के लिए उम्मीदवार थे। साढ़े सत्रह रुपए माहवार की जगह के लिए बिचारे दिन भर दौड़-धूप करते, इससे मिल, उससे मिल, न जाने किसकी-किसकी खुशामद करनी पड़ती थी; फिर भी नौकरी पाने की उन्हे बहुत कम उम्मीद थी। इधर वे कई मास से बेकार बैठे थे। भामा के पास कुछ जेवर थे जो हर माह गिरवी रक्खे जाते थे और किसी प्रकार काट-कसर करके घर का खर्च चलता था। भामा पैसों को दांत तले दबाकर खर्च करती। सास और पति को खिलाकर स्वयं आधे पेट ही खाकर पानी से ही पेट भरकर उठ जाती। कभी दाल का पानी ही पी लिया करती। कभी शाक उबालकर ही पेट भर लिया करती। रुपये पैसों की तंगी के कारण घर में प्रायः रोज ही इस प्रकार कलह मची रहती।

जब गंगाप्रसाद जी दिन भर की दौड़-धूप के बाद थके-हारे घर लौटे तब शाम हो रही थी; आंगन में उनकी मां

उदास बैठी थीं; बेटे को देखा तो नीची आंख कर ली, कुछ बोली नहीं। गंगाप्रसाद अपनी मां का बड़ा आदर करते थे। उनका बड़ा ख्याल रखते थे। जिस बात से उन्हें ज़रा भी कष्ट होता वह बात वे कभी न करते थे। मां को उदास देखकर वे मां के पास जाकर बैठ गये; प्यार से मां के गले में बाहें डाल दीं; पूछा—"क्यों मां आज उदास क्यों है? क्या कुछ तबियत खराब है?"

—"नहीं, अच्छी है।"

—"कुछ भी तो हुआ है; मां तू उदास है।"

अब मां जी से न रहा गया; फूट-फूट के रोने लगीं; बोलीं—"कुछ नहीं मैं आदमी-औरत में लड़ाई नहीं लगवाना चाहती; बस इतना ही कहती हूँ कि अब मैं इस घर में न रह सकूँगी; मेरे लिए अलग झोपड़ा बनवा दे; वहीं पड़ी रहूँगी। जी में आवे तो खरच भी देना नहीं तो मांग के खा लूंगीं।"

—"क्यों मां! क्या कुछ झगड़ा हुआ है? सच-सच कहना!"

—"आज ही क्या? यह तो तीसों दिन की बात है! तेरी घर वाली ने मोहन से मिठाई मंगवाई; वह दोना भर मिठाई मेरे सामने लाया; मैं ज़रा पूछने गई तो कहती

है, हाँ मंगवाती हूँ; खाती हूँ ? अपने आदमी की कमाई खाती हूँ; कुछ तुम्हारे बाप का तो नहीं खाती ? जब मैंने कहा कि तेरा आदमी है तो मेरा भी तो बेटा है, उसकी कमाई में मेरा भी हक़ है तो कहती है कि तुम्हारा हक़ जब था तब था, अब तो सब मेरा है। ज्याद: बोलोगी तो मार के घर से निकाल दूँगी। तो बाबा तेरी औरत है; तू ही उसकी मार सह; मैं मांग के पेट भले ही भर लूँ; पर बहू के हाथ की मार न खाऊँगी।"

गंगाप्रसाद अब न सह सके, बोले—"वह तुझे मारेगी माँ! मैं ही न उसके हाथ-पैर तोड़ कर डाल दूँगा। कहते हुए वे हाथ की लकड़ी उठाकर बड़े गुस्से से भीतर गये। भामा को डाँटकर पूछा—क्या मँगाया था तुमने मोहन से ?

गंगाप्रसाद के इस प्रश्न के उत्तर में "कदम के फूल थे, भैय्या!" कहते हुए मोहन ने घर में प्रवेश किया तब भामा ने दोना उठाकर गंगाप्रसाद के सामने रख दिया था। दोने में आठ दस पीले-पीले गोल-गोल बेसन के लड्डुओं की तरह कदम्ब के फूलों को देखकर गंगाप्रसाद को हँसी आ गई।

मोहन ने दोने में से एक फूल उठाकर कहा—"कितना सुन्दर है यह फूल, भौजी"!

क़िस्मत

[१]

"भौजी, तुम सदा सफ़ेद धोती क्यों पहिनती हो" ?

"मैं क्या बताऊँ, मुन्नी" ।

"क्यों भौजी ! क्या तुम्हें अम्मा रंगीन धोती नहीं पहिनने देती" ?

"नहीं मुन्नी ! मेरी किस्मत ही नहीं पहिनने देती, अम्मा भी क्या करें ?"

"किस्मत कौन है, भौजी ! वह भी क्या अम्मा की तरह तुमसे लड़ा करती है और गालियाँ देती है ।"

सात साल की मुन्नी ने किशोरी के गले में बाहें डाल

कर पीठ पर भूलते हुए पूँछा—"किस्मत कहाँ है ? भोजी मुझे भी बता दो।"

सिल पर का पिसा हुआ मसाला कटोरी में उठाते हुए किशोरी ने एक ठंडी साँस ली; बोली—"किस्मत कहाँ है मुन्नी, क्या बताऊँ"।

अँचल से आँसू पोंछकर किशोरी ने तरकारी बघार दी। खाना तैयार होने में अभी आध घन्टे की देर थी। इसी समय मुन्नी की माँ गरजती हुई चौके में आईं; बोली "दस, साढ़े दस बज रहे हैं; अभी तक खाना भी नहीं बना! बच्चे क्या भूखे ही स्कूल चले जायँगे ? बाप रे बाप!! मैं तो इस कुलच्छनी से हैरान हो गई। घर में ऐसा कौन सा भारी काम है, जो समय पर खाना भी नहीं तैयार होता ? दुनियाँ में सभी औरतें काम करती हैं या तू ही अनोखी काम करने वाली है!"

एक साँस में, मुन्नी की माँ इतनी बातें कह गईं; और पटा बिछाकर चौके में बैठ गईं। किशोरी ने डरते-डरते कहा—"अम्मा जी, अभी तो नौ ही बजे हैं; आध घंटे में सब तैयार हो जाता है; तुम क्यों तकलीफ करती हो ?"

चिमटा खींच कर किशोरी को मारती हुई सास

बोलीं—"तू सच्ची और मैं झूठी ? दस बार राँड से कह दिया कि जबान न लड़ाया कर; पर मुँह चलाए ही चली जाती है । तू भूली किस घमंड में है ? तेरे सरीखी पचास को तो मैं उँगलियों पर नचा दूँ । चल हट निकल चौके से ।"

आँख पोंछती हुई किशोरी चौके से बाहर हो गई । ज़रा सी मुन्नी अपनी माँ का यह कठोर व्यवहार विस्मय भरी आँखों से देखती रह गई । किशोरी के जाते ही वह भी चुपचाप उसके पीछे चली । किन्तु तुरंत ही माता की डाँट से वह लौट पड़ी ।

इस घर में प्रायः प्रति दिन ही इस प्रकार होता रहता था ।

[२]

बच्चे खाना खाकर, समय से आध घंटे पहिले ही स्कूल पहुँच गए । खाना बनाकर जब मुन्नी की माँ हाथ धो रही थीं तब उनके पति रामकिशोर मुवक्किलों से किसी प्रकार छुट्टी पाकर घर आए । सुनसान घर देखकर बोले—बच्चे कहाँ गये सब ?

नथुने फुलाती हुई मुन्नी की माँ ने कहा—"स्कूल गए; और कहाँ जाते ? कितना समय हो गया; कुछ खबर भी है ?"

घड़ी निकाल कर देखते हुए रामकिशोर बोले—"अभी साढ़े नौ ही तो बजे हैं मुझे कचहरी भी तो जाना है न ?"

मुन्नी की माँ तड़प कर बोली—"ज़रूर तुमने सुन लिया होगा ? दुलारी बहू ने नौ कहा था और तुम साढ़े नौ पर पहुँच गये तो इतना ही क्या कम किया ? तुम उसकी बात कभी झूठी होने दोगे ? मैं तो कहती हूं कि इस घर में नौकर-चाकर तक का मान मुलाहिज़ा है, पर मेरा नहीं। सब सच्चे और मैं झूठी, कहके मुन्नी की माँ ज़ोर से रोने लगी।"

—'मैं तो यह नहीं कहता कि तुम झूठी हो; घड़ी ही ग़लत हो गई होगी ? फिर इसमें रोने की तो कोई बात नहीं है"।

कहते-कहते रामकिशोर जी स्नान करने चले गए। वे अपनी स्त्री के स्वभाव को अच्छी तरह जानते थे। किशोरी के साथ वह कितना दुर्व्यवहार करती है, यह भी उनसे छिपा न था। ज़रा-ज़रा सी बात पर किशोरी को मार देना और गाली दे देना तो बहुत मामूली बात थी। यही कारण था कि बहू के प्रति उनका व्यवहार बड़ा ही आदर और प्रेम पूर्ण होता। किशोरी उनके पहिले विवाह

की पत्नी के एक मात्र बेटे की बहू थी। विवाह के कुछ ही दिन बाद निर्दयी विधाता ने बेचारी किशोरी का सौभाग्य-सिन्दूर पोंछ दिया। उसके मायके में भी कोई न था। वह अभागिनी विधवा सर्वथा दया ही की पात्र थी। किन्तु ज्यों-ज्यों मुन्नी की मां देखतीं कि रामकिशोर जी का व्यवहार बहू के प्रति बहुत ही स्नेह-पूर्ण होता है त्यों-त्यों किशोरी के साथ उनका द्वेष भाव बढ़ता ही जाता। रामकिशोर अपनी इस पत्नी से बहुत दबते थे; इन सब बातों को जानते हुए भी वह किशोरी पर किए जाने वाले अत्याचारों को रोक न सकते थे। सौ की सीधी बात तो यह थी कि पत्नी के खिलाफ़ कुछ कह के वे अपनी खोपड़ी के बाल न नुचवाना चाहते थे। इसलिए बहुधा वे चुप ही रह जाया करते थे।

आज भी जान गए कि कोई बात जरूर हुई है और किशोरी को ही भूखी-प्यासी पड़ा रहना पड़ेगा। इसलिए वे कचहरी जाने से पहिले किशोरी के कमरे की तरफ़ गए और कहते गए कि "भूखी न रहना बेटी! रोटी ज़रूर खा लेना नहीं तो मुझे बड़ा दुःख होगा।"

"रोटी ज़रूर खा लेना नहीं तो मुझे बड़ा दुःख होगा।"

रामकिशोर का यह वाक्य मुन्नी की मां ने सुन लिया। उनके सिर से पैर तक आग लग गई, मन ही मन सोचा। "इस चुड़ैल पर इतना प्रेम! कचहरी जाते-जाते उसका लाड़ कर गए; खाना खाने के लिए खुशामद कर गए; मुझसे बात करने की भी फ़ुर्सत न थी? खायगी खाना, देखती हूँ, क्या खाती है? अपने बाप का हाड़।"

मुन्नी की मां ने खाना खा चुकने के बाद, सब का सब खाना उठा कर कहारिन को दे दिया और चौका उठाकर बाहर चली गईं। किशोरी जब चौके में गई तो सब बरतन खाली पड़े थे। भात के बटुए में दो तीन कण चावल के लिपटे थे। किशोरी ने उन्हीं को निकाल कर मुँह में डाल लिया और पानी पी कर अपनी कोठरी में चली आई।

[३]

आज रामकिशोर जी कचहरी में कुछ काम न होने के कारण जल्दी ही लौट आए। मुन्नी की मां बाहर गईं थीं। घर में पत्नी को कहीं न पाकर वे बहू की कोठरी की तरफ़ गए। बहू की दयनीय दशा को देखकर उनकी आँखें भर आईं। आज चन्दन जीता होता तब भी क्या इसकी यही दशा रहती? अपनी भीरुता पर उन्होंने अपने

आपको न जाने कितना धिक्कारा। उसकी धोती कई जगह से फटकर सी जा चुकी थी। उस धोती से लज्जा निवारण भी कठिनाई से ही हो सकती थी। बिछौनों के नाम से खाट पर कुछ चीथड़े पड़े थे। ज़मीन पर हाथ का तकिया लगाए वह पड़ी थी; उसको झपकी सी लग गई थी। पैरों की आहट पाते ही वह तुरन्त उठ बैठी। रामकिशोर जी को सामने देखते ही संकोच से ज़रा घूंघट सरकाने के लिए उसने ज्योंही धोती खींची, धोती फट गई; हाथ का पकड़ा हुआ हिस्सा हाथके साथ नीचे चला आया। राम किशोर ने उसका कमल सा मुरझाया हुआ चेहरा और डब-डबाई हुई आंखें देखीं। उनका हृदय स्नेह से कातर हो उठा; वे ममत्व भरे मधुर स्वर में बोले—"तुमने खाना खा लिया है बेटी !"

किशोरी के मुंह से निकल गया "नहीं"। फिर वह सम्हल कर बोली "खा तो लिया है बाबू।"

रामकिशोर—मुझे तो ऐसा मालूम होता है कि तुमने नहीं खाया है। किशोरी कुछ न बोली उसका मुंह दूसरी ओर था, आँसू टपक रहे थे और वह नाखून से धरती खुरच रही थी।

रामकिशोर फिर बोले—तुमने नहीं खाया न? मुझे दुःख है कि तुमने भी अपने बूढ़े ससुर की एक जरा सी बात न मानी।

किशोरी को बड़ी ग्लानि हो रही थी कि वह क्या उत्तर दे; कुछ देर में बोली—"बाबू मैंने आपकी आज्ञा का पालन किया है; जो कुछ चौके में था खा लिया है; झूठ नहीं कहती"

रामकिशोर को विश्वास न हुआ कहारिन को बुलाकर पूछा तो कहारिन ने कहा—"मेरे सामने तो बहू ने कुछ नहीं खाया। माँ जी ने चौका पहिले ही से खाली कर दिया था, खाती भी तो क्या?

पत्नी की नीचता पर कुपित और बहू के सौजन्य पर रामकिशोर जी पानी-पानी हो गये। आज उनके जेब में ५०) थे; उसमें से दस निकाल कर वे बहू को देते हुए बोले। यह रुपये रखो बेटी, तुम्हें यदि जरूरत पड़े तो खर्च करना। इसी समय आँधी की तरह मुन्नी की माँ ने कोठरी में प्रवेश किया। बीच से ही रुपयों को झपट कर छीन लिया; वह किशोरी के हाथ तक पहुँच भी न पाये थे; गुस्से से तड़प कर बोली—बाप रे बाप! अँधेर हो गया; कलजुग जो न

करावें सो थोड़ा ही है। अपने सिर पर की चाँदी की तो लाज रखते। बेटी-बहू के सूने घर में घुसते तुम्हें लाज भी न आई? तुम्हारे ही सर चढ़ाने से तो यह इतनी सरचढ़ी है। पर मैं न जानती थी कि बात इतनी बढ़ चुकी है। इस बुढ़ापे में भी गढ़े में ही जा के गिरे! राम, राम! इसी पाप के बोझ से तो धरती दबी जाती है।"

वे तीर की तरह कोठरी से निकल गईं। उनके पीछे ही रामकिशोर भी चुपचाप चले गए। वे बहुत वृद्ध तो न थे; परन्तु जीवन में नित्य होने वाली इन घटनाओं और जवान बेटे की मृत्यु से वे अपनी उमर के लिहाज़ से बहुत बूढ़े हो चुके थे। ग्लानि और क्षोभ से वे बाहर की बैठक में जाकर लेट गए। उन्हें रह-रह कर चन्दन की याद आरही थी। तकिए में मुँह छिपाकर वह रो उठे। पीछे से आकर मुन्नी ने पिता के गले में बाहें डाल दीं पूछा—"क्यों रोते हो बाबू" रामकिशोर ने विरक्ति के भाव से कहा—"अपनी किस्मत के लिए बेटी!"

सबेरे मुन्नी ने भौजी के मुँह से भी किस्मत का नाम सुना था और उसके बाद उसे रोते देखा था। इस समय जब उसने पिता को भी किस्मत के नाम से रोते देखा तो

उसने विस्मित होकर पूछा—"किस्मत कहां रहती है बाबू ? क्या वह अम्मा की कोई लगती है ?

मुन्नी के इस भोले प्रश्न से दुःख के समय भी रामकिशोर जी को हँसी आगई, और वे बोले—हाँ वह तुम्हारी मां की बहिन है।

मुन्नी ने विश्वास का भाव प्रकट करते हुए कहा "तभी वह तुम्हें भी और भौजी को भी रुलाया करती है।

मछुए की बेटी

[१]

चौधरी और चौधराइन के लाड़-प्यार ने निम्मी को बड़ी ही स्वच्छन्द और उच्छृंखल बना दिया था। वह बड़ी निडर और कौतूहल-प्रिय थी। आधीरात पिछली पहर, जब निम्मी की इच्छा होती वह नदी पर जा कर नाव खोल कर जल-विहार करती और स्वच्छ लहरों पर खेलती हुई चन्द्र किरणों की अठखेलियाँ देखती।

यही कन्या चौधरी की सब कुछ थी; किन्तु फिर भी आज तक चौधरी उसका विवाह न कर सके थे; क्योंकि कन्या के योग्य कोई वर चौधरी को अपनी जात में न देख पड़ता था। इसीलिए निम्मी अभी तक कौंरी ही थी।

नदी के पार, और उस पार से इस पार लाने का चौधरी ने ठेका ले रक्खा था। चौधरी की अनुपस्थिति में तिन्नी अपने पिता का काम बड़ी योग्यता से करती थी।

[२]

"आज इतनी जल्दी कहाँ जा रही हो तिन्नी"?
"क्या तुम नहीं जानते?"
"क्या"?
"यही कि राजा साहब आज उस पार जायंगे"?
"कौन राजा साहब"?
"तुम्हें यह भी नहीं मालूम?"
"मैं आज ही तो यहाँ आया हूँ।"
"और अब तक कहाँ थे?"
"अपने घर"।

"तो जैसे मैं रात-दिन घाट पर ही तो बनी रहती हूँ न? इसलिए मुझे सब कुछ जानना चाहिए और तुम्हें कुछ भी नहीं। तुम मुझे वैसे ही तंग किया करते हो। जाओ, अब मैं तुमसे बात भी न करूँगी।"

तिन्नी को चिढ़ाकर उसकी क्रोधित मुद्रा को देखने

में युवक को विशेष आनन्द आता था। इसलिए वह प्रायः इसी प्रकार के बेसिर-पैर के प्रश्न करके उसे चिढ़ा दिया करता था। किन्तु आज तो बात ज़रा टेढ़ी हो गई थी। तिन्नी ने क्रोधावेश में यह प्रतिज्ञा कर ली थी कि अब वह युवक से बोलेगी ही नहीं; इसलिए मुंह फेरकर वह तेजी से घाट की ओर चल दी। युवक ने तिन्नी का रास्ता रोक लिया और बड़े विनीत और नम्र भाव से बोला—

"तिन्नी! सच बता दे मेरी तिन्नी! मैं तेरा डाँड़ चला दूंगा, तेरा आधा काम कर दूंगा।

तिन्नी के क्रोधित मुख पर हंसी नाच गई। युवक उसके साथ डांड़ चला देगा; उसे एक साथी मिल जावेगा; इस बात को सोचकर उसे बड़ी प्रसन्नता हुई। वह बोली—सच कहते हो? मेरे साथ तुम डांड़ चलाओगे? देखो, बापू नहीं हैं; मैं अकेली हूँ। यदि तुम सचमुच मेरे साथ डांड़ चलाने को कहो, तो फिर मैं बताती हूँ।

"सच नहीं तो क्या झूठ? मैं डाँड़ ज़रूर चलाऊंगा; पर पहिले तुझे बताना पड़ेगा", युवक ने कहा।

"इधर अपने पास ही कोई रियासत है न? वहीं के राजा साहब नदी के उस पार शिकार खेलने

जायंगे। महीना, पन्द्रह दिन का काम है मनोहर! खूब अच्छा रहेगा। खूब पैसे भी मिलेंगे। मैं तुम्हें भी दिया करूंगी; पर इतना वादा करो कि जब तक बापू न लौट कर आवें; तुम रोज मेरे साथ डाँड़ चलाया करो।"

—" यह कौन सी बड़ी बात है तिन्नी ? यदि तू मान जा तो मैं तो तेरे साथ जीवन भर डांड़ चलाने को तैयार हूँ।"

"तो जैसे मैंने कभी इन्कार किया हो, नेकी और पूछ पूछ ? तुम मेरा डांड़ चलाओ और मैं इन्कार कर दूंगी"

—"तो, तिन्नी तू मुझसे विवाह क्यों नहीं कर लेती ? फिर हम दोनों जीवन भर साथ-साथ डांड़ चलाते रहेंगे।

क्षणभर के लिए तिन्नी के चेहरे पर लज्जा की लाली दौड़ गई। किन्तु तुरंत ही वह सम्हल कर बोली—कहने के लिए तो कह गये मनोहर! किन्तु आज मैं विवाह के लिए तैयार हो जाऊँ तो ?

—"तो मैं खुशी के मारे पागल हो जाऊँ।"

—"फिर उसके बाद ?"

—"फिर मैं तुम्हें रानी बना कर अपने आपको दुनियां का बादशाह समझूं।"

—"अपने आपको बादशाह समझोगे, क्यों मनोहर? और मैं बनूँगी रानी। पर मैं रानी बनने के बाद डांड़ तो न चलाऊँगी, अभी से कहे देती हूं।

—"तब मैं ही क्यों डांड़ चलाने लगा। मैं बनूंगा राजा। और तुम बनोगी मेरी रानी, फिर डांड़ चलाएंगे हमारे-तुम्हारे नौकर।"

"अच्छा, यह बात है!" कह कर तिन्नी खिलखिला कर हँस पड़ी और दोनों हँसते हुए घाट की तरफ चले गये।

[२]

एक बड़ी नाव पर राजा साहब और उनके पुत्र कृष्णदेव अपने कई मुसाहिबों के साथ उस पार जाने के लिए बैठे। तिन्नी कई मछुओं और मनोहर के साथ डांड चलाने लगी। तिन्नी नाव भी खेती जाती थी और साथ ही मनोहर से हँस-हँस कर बातें भी करती जाती थी। वायु के झोंकों के साथ उड़ते हुए उसके काले घुंघराले बाल उसकी सुन्दर मुखाकृति को और भी मोहक बना रहे थे। कृष्णदेव उसके मुँह की ओर किस स्थिरता के साथ देख रहे हैं;

इस ओर तिन्नी का ध्यान ही न था। किन्तु राजा साहब से पुत्र की मानसिक अवस्था छिपी न रही। युवा काल में उनके जीवन में भी कई बार ऐसे मौक़े आ चुके थे।

अब कृष्णदेव प्रायः प्रति दिन ही जल-विहार के लिए नौका पर आते और डांड चलाने का काम बहुधा तिन्नी ही किया करती। कृष्णदेव के मूक प्रेम और आकर्षण ने तिन्नी को भी उनकी तरफ़ बहुत कुछ आकर्षित कर लिया था। जिस समय कृष्णदेव नौका पर आते, उस समय अन्य मल्लुओं के रहते हुए भी तिन्नी स्वयं ही नौका चलाती।

. .

राजा साहब से कुछ छिपा न था। कुमार रोज़ जल-विहार के लिए जाते हैं, और तिन्नी ही नाव चलाया करती है, यह राजा साहब ने सुन लिया था। अतएव बात को इससे अधिक न बढ़ने देने के अभिप्राय से राजा साहब बिना शिकार खेले ही एक दिन अपनी रियासत को लौट गये। जाने को तो पिता के साथ कृष्णदेव भी गये; किन्तु उनका हृदय मल्लुए के झोपड़े में तिन्नी के ही पास छूट गया था। रियासत पहुँच कर कृष्णदेव सदा उदास और न जाने किन विचारों में निमग्न रहा करते। शायद

उन्हें रह रह कर मनोहर के भाग्य पर ईर्षा होती थी। वह सोचते मनोहर किस प्रकार तिन्नी के पास बैठकर नाव चलाया करता था। तिन्नी कैसी घुल-मिलकर हंसती हुई उससे बातें किया करती थी। एक मामूली आदमी हो कर भी मनोहर कितना सुखी है। काश! मैं भी एक मछुआ होता और तिन्नी के पास बैठकर नाव चला सकता; तो कितना सुखी न होता?

किन्तु वे कभी किसी से कुछ भी न कहते। हां! अब उन्हें आखेट से रुचि न थी। शतरंज के वे बहुत अच्छे खिलाड़ी थे; किन्तु अब मुहरों की ओर उनसे आंख उठाकर देखा भी न जाता। अध्ययन से भी उन्हें बड़ा प्रेम था। उनकी लायब्रेरी में विद्वान लेखकों की अच्छी से अच्छी पुस्तकें थीं; किन्तु उन पर अब इंचों धूल जम रही थी।

यार दोस्त आते; घंटों छेड़छाड़ करते; किन्तु कृष्णदेव में तिल-भर का भी परिवर्तन न होता। उनके अन्तर-जगत में कितना भयंकर तूफान उठ रहा था, यह किसे मालूम था। कृष्णदेव अपनी वेदना चुपचाप पी रहे थे। किन्तु उनकी आंतरिक पीड़ा को उनकी शारीरिक अवस्था

बतला रही थी। उनका स्वास्थ्य दिनों-दिन गिरता जा रहा था।

पिता से पुत्र की बीमारी छिपी न थी। वे सब जानते थे; किन्तु वे चाहते यह थे कि बात किसी प्रकार दबी की दबी ही रह जाय; उन्हें बीच में न पड़ना पड़े। कृष्णदेव उनका इकलौता पुत्र था। पुत्र की चिन्ता उन्हें रात-दिन बनी रहती थी। तिन्नी के अनिन्दनीय रूप और चातुर्य ने राजा साहब को आकर्षित न किया हो, सो बात न थी। किन्तु थी तो वह आखिर मछुए की ही बेटी ! राजा साहब उससे कृष्णदेव का विवाह करते भी तो कैसे ?

एक दिन राजा साहब कृष्णदेव के कमरे में गये। उस समय वह सोए हुए थे। आँखों के पास जैसे रोते-रोते गड्ढे से पड़ गये थे। चेहरा पीला-पीला और शरीर सूख कर जैसे काँटा सा हो रहा था। ज़मीन पर ही एक चटाई के ऊपर बिना तकिए के मखमली बिछौनों पर सोने वाला उनका दुलारा कृष्णदेव न जाने किस चिन्ता में पड़ा-पड़ा सो गया था। राजा साहब की आँखों में आँसू आ गये। वे कुछ न बोलकर चुपचाप कृष्णदेव के कमरे से बाहर निकल आए।

[४]

दूसरे ही दिन रियासत से तिन्नी समेत चौधरी का बुलौआ हुआ। उन्हें शीघ्र से शीघ्र उपस्थित होने की आज्ञा थी और साथ ही उन्हें लेने के लिए सवारी भी आई थी। इस घटना ने मुहल्ले भर में हलचल मचा दी। चौधरी बहुत घबराए। सोचा "अवश्य ही मेरी अनुपस्थिति में इस उद्दंड लड़की ने कोई अनुचित व्यवहार कर दिया होगा। राजा साहब जरूर नाराज हैं; नहीं तो तिन्नी समेत बुलाए जाने का और कारण ही क्या हो सकता है। मुहल्ले वाले सभी चौधरी को समयोचित सीख देने आए। अपनी अपनी समझ के अनुसार किसी ने कुछ कहा, किसी ने कुछ। किन्तु तिन्नी का हृदय कुछ और ही बोल रहा था। तिन्नी पिता के पास मोटर पर बैठने ही वाली थी; मनोहर ने आकर धीरे से तिन्नी से कहा—

मनोहर—तिन्नी ! कहीं राजकुमार ने तुम्हें अपनी रानी बनाने को बुलाया हो तो ?

तिन्नी—कुछ तुम मुझे अपनी रानी बनाते थे, कुछ राजकुमार बनाएंगे ?

मनोहर—तिन्नी। तुम तो सदा ही मेरे हृदय की रानी

रही हो और रहोगी। आज ऐसी बात क्यों करती हो ?

"सो कैसे ? बिना विवाह हुए ही मैं तुम्हारी या तुम्हारे हृदय की रानी कैसे बन सकती हूँ ?" तिन्नी ने रुखाई से पूंछा।

मनोहर—तिन्नी ! रानी बनने के लिए विवाह ही थोड़े जरूरी है; जिसे हम प्यार करें वही हमारी रानी।

तिन्नी का चहरा तमतमा गया; बोली धत् ! मैं ऐसी रानी नहीं बनना चाहती; ऐसी रानी से तो मछुए की बेटी ही भली। और मनोहर के उत्तर की प्रतीक्षा न करके पिता के पास जाकर मोटर पर बैठ गई। मोटर स्टार्ट हो गई।

जब यह लोग रियासत में राजा साहब के महल के सामने पहुँचे तब कुछ अंधेरा हो चला था। इनके पहुँचने की सूचना राजा साहब को दी गई। चौधरी पुत्री समेत महल के एक सूने कमरे में बुलाए गए। कमरे में राजा साहब और कृष्णदेव को छोड़ कर कोई न था। डर के मारे चौधरी की तो हुलिया बिगड़ रही थी। किन्तु तिन्नी मन ही मन मुस्कुरा रही थी। पिता-पुत्री का उचित

सम्मान करने के उपरान्त राजा साहब ने मछुए को सम्बोधन करके कहा—चौधरी हमने तुम्हें किसलिए बुलाया है कदाचित् तुम नहीं जानते।

चौधरी भय से कांप उठे; हाथ जोड़कर बोले—मैं तो महाराज का गुलाम हूं, सदा..........। राजा साहब बात काटते हुए बोले—हम तुम्हारी इस कन्या को राजकुमार के लिए चाहते हैं।

तिन्नी ओठों के भीतर मुस्कुराई, और चौधरी आश्चर्य से चकित हो गये। एक बार राजा साहब की ओर और फिर उन्होंने तिन्नी की ओर देखा। सहसा चौधरी को इस बात पर विश्वास न हुआ। कहाँ मैं एक साधारण मछुआ और कहाँ ये एक रियासत के राजा! हमारे बीच में कभी रिश्तेदारी भी हो सकती है? फिर न जाने क्या सोचकर भय-विह्वल चौधरी ने हाथ जोड़ कर कहा—महाराज यह कन्या मेरी नहीं है।

राजा साहब चौंक उठे; आश्चर्य से उन्होंने चौधरी से पूछा—फिर यह किसकी लड़की है?

हाथ जोड़े ही जोड़े चौधरी बोले—महाराज पन्द्रह साल पहिले की बात है; नदी में बहुत बाढ़ आई थी। उसी बाढ़ में, मेरे बुढ़ापे की लकड़ी, यह कन्या मुझे मिली थी।

यह एक खाट पर बहती हुई आई थी और इसके गले में एक छोटी सी सोने की तावीज़ थी।

तावीज़ का नाम सुनते ही राजा साहब को तावीज़ देखने की उत्सुकता हुई। उनके मस्तिष्क में किसी तावीज़ की धुंधली-सी स्मृति छा गई। पिता के आदेश से तिन्नी गले से तावीज़ निकालने के लिए तावीज़ के धागे की गाँठ खोलने लगी।

मछुए ने फिर कहना शुरू किया—'महराज ! इस तावीज़ का भी बड़ा विचित्र क़िस्सा है। एक बार तावीज़ का धागा टूट गया, कई दिनों तक याद न रहने के कारण यह तावीज़ इसे न पहिनाई जा सकी। बस महाराज यह तो इतनी ज्याद: बीमार पड़ी कि मरने-जीने की नौबत आ गई। और फिर तावीज पहिनाते ही बिना दवा-दारू के ही चंगी भी हो गई। तब से तावीज़ आज तक उसके गले में ही पड़ी है।

राजा साहब को स्मरण हो आया कि पन्द्रह साल पहिले उनकी लड़की भी टेन्ट के अन्दर से बाढ़ में बह गई थी। जिसके गले में उन्होंने भी एक ज्योतिषी के आदेशानुसार तावीज़ पहिनाई थी। उन्होंने एक बार कृष्णदेव, फिर तिन्नी के मुंह की तरफ़ देखा। उन्हें उनके मुंह में बहुत

कुछ समानता देख पड़ी । तब तक तिन्नी ने गले से तावीज़ निकाल कर राजा साहब के सामने कर दिया। राजकुमार का हृदय बड़े वेग से धड़क रहा था। तावीज़ हाथ में लेते ही राजा साहब ने 'मेरी कान्ती' कहते हुए तिन्नी को छाती से लगा लिया। यह वही तावीज़ थी जिसे ज्योतिषी के आदेश से राजा साहब ने पुत्री के गले में पहिना दिया था।

पिता-पुत्री और भाई-बहिन का यह अपूर्व सम्मिलन था। सब की आँखों में प्रेम के आँसू उमड़ आए।

[५]

अब महल के पास ही चौधरी के रहने के लिए पक्का मकान बन गया है। चौधरी अपनी स्त्री समेत वहीं रहते हैं। अब उन्हें नाव नहीं चलानी पड़ती, रियासत की ओर से उनकी जीविका के लिए अच्छी रक़म बाँध दी गई है।

राज-महल में रहती हुई भी कान्ती चौधरी के घर आकर तिन्नी हो जाती है। अब भी वह चौधरी के साथ उनकी थाली में बैठकर चौधराइन के हाथ की मोटी-मोटी रोटियाँ खा जाती है।

तिन्नी को बहिन के रूप में पाकर कृष्णदेव को कम प्रसन्नता न थी। वे तिन्नी का साथ चाहते थे—चाहे वह पत्नी के रूप में हो या बहिन के।

एकादशी

[१]

शहर भर में डाक्टर मिश्रा के मुक़ाबिले का कोई डाक्टर न था। उनकी प्रैकटिस खूब चढ़ी-चढ़ी थीं। यशस्वी हाथ के साथ ही साथ वे बड़े विनोद प्रिय, मिलनसार और उदार भी थे। उनकी प्रसन्न मुद्रा और उनकी उत्साहजनक बातें मुर्दों में भी जान डाल देती थीं। रोता हुआ रोगी भी हंसने लगता था। वे रोगी के साथ इतनी घनिष्ठता दिखलाते कि जैसे बहुत निकट सम्बन्धी या मित्र हो। कभी-कभी तो बीमार की उदासी दूर करने के लिए उसके हृदय में विश्वास और आशा का संचार

करने के लिए वे रोगी के पास घंटों बैठ कर न जाने कहाँ कहाँ की बातें किया करते।

उन्हें बच्चों से भी विशेष प्रेम था। यही कारण था कि वे जिधर से निकल जाते बच्चे उनसे हाथ मिलाने के लिए दौड़ पड़ते। और सबसे अधिक बच्चों को अपने पास खींच लेने का आकर्षण, उनके पास था, उनके जेब की मीठी गोलियाँ, जिन्हें वे केवल बच्चों के ही लिए रखा करते थे। वे होमियोपैथिक चिकित्सक थे। बच्चे उनसे मिलकर बिना दवा खाए मानते ही न थे; इसलिए उन्हें सदा अपने जेब में बिना दवा की गोलियाँ रखनीं पड़ती थीं।

एक दिन इसी प्रकार बच्चों ने उन्हें आ घेरा। आज उनके ताँगे पर कुछ फल और मिठाई थी, जिसे उनके एक मरीज़ ने उनके बच्चों के लिए रख दिया था। डाक्टर साहब ने आज दवा की मीठी गोलियों के स्थान में मिठाई देना प्रारम्भ किया। उन बच्चों में एक दस वर्ष की बालिका भी थी जिसे डाक्टर साहब ने पहिली ही बार अपने इन छोटे-छोटे मित्रों में देखा था। बालिका की मुखाकृति और विशेष कर आँखों में एक ऐसी भोली और चुभती हुई मोहकता थी कि उसे स्मरण रखने के

लिए उसके मुँह की ओर दूसरी बार देखने की आवश्यकता न थी। दूसरे बच्चों की तरह डाक्टर साहब ने उसे भी मिठाई देने के लिए हाथ बढ़ाया। किन्तु बालिका ने कुछ लज्जा और संकोच के साथ सिमट कर सिर हिलाते हुए मिठाई लेने से इन्कार कर दिया। बालक और मिठाई न ले, यह बात जरा विचित्र सी थी। डाक्टर ने एक की जगह दो लड्डू देते हुए उससे फिर बड़े प्रेम के साथ लेने के लिए आग्रह किया। बालिका ने फिर सिर हिलाकर अस्वीकृति की सूचना दी। तब डाक्टर साहब ने पूछा—

—"क्यों बिटिया! मिठाई क्यों नहीं लेती?"

—"आज एकादशी है। आज भी कोई मिठाई खाता है।"

डाक्टर साहब हँस पड़े और बोले—"यह इतने बच्चे खा रहे हैं सो?"

—"आदमी खा सकते हैं औरतें नहीं खातीं। हमारी दादी कहती हैं कि हमें एकादशी के दिन अन्न नहीं खाना चाहिए।"

—"तो तुम एकादशी करती हो?"

—"क्यों नहीं ? हमारी दादी कहती हैं कि हमें नेम धरम से रहना चाहिए।"

डाक्टर साहब ने दिन में बहुत से रोगी देखे, बहुत से बच्चों से प्यार किया और संभवतः दिन भर वह बालिका को भूले भी रहे। किन्तु रात को जब सोने के लिए लैम्प बुझा कर वे खाट पर लेटे तो बालिका की स्मृति उनके सामने आ गई। वह लज्जा और संकोच भरी आँखें, वह भोला किन्तु दृढ़-निश्चयी चेहरा ! वह मिठाई न लेने की अस्वीकृति का चित्र ! उनकी आँखों के सामने खिंच गया।

[२]

बाद में डाक्टर साहब को मालूम हुआ कि वह एक दूर के मुहल्ले में रहती है। उसका पिता एक ग़रीब ब्राह्मण है, जो वहीं किसी मन्दिर में पुजारी का काम करता है। अभी दो वर्ष हुए जब बालिका का विवाह हुआ था और विवाह के छै महीने बाद ही वह विधवा भी हो गई। विधवा होते ही पुरानी प्रथा के अनुसार उसके बाल काट दिए गए थे। यही कारण था कि उसका सिर मुंडा हुआ

था। उस परिवार में दो विधवाएँ थीं। एक तो पुजारी की बूढ़ी माँ, दूसरी यह अभागिनी बालिका। एक का जीवन अंधकार पूर्ण भूतकाल था जिसमें कुछ सुख-स्मृतियाँ धुंधली तारिकाओं की तरह चमक रही थीं। दूसरी के जीवन में था अंधकार पूर्ण भविष्य। परन्तु संतोष इतना ही था कि वह बालिका अभी उससे अपरिचित थी। दोनों की दिन-चर्या (साठ और दस वर्ष की अवस्थाओं की दिनचर्या) एक सी ही संयम पूर्ण और कठोर थी। बेचारी बालिका न जानती थी अभी उसके जीवन में संयम और यौवन के साथ युद्ध छिड़ेगा।

इस घटना को हुए प्रायः दस वर्ष बीत गये। डाक्टर साहब उस शहर को अपनी प्रैकटिस के लिए अपर्याप्त समझ कर एक दूसरे बड़े शहर में चले गये। यहाँ उनकी डाक्टरी और भी चमकी। वे ग़रीब-अमीर सभी के लिए सुलभ थे।

बड़ा शहर था। सभा-सोसाइटियों की भी ख़ासी धूम रहती; और हर एक सभा सोसाइटी वाले यह चाहते कि डाक्टर मिश्रा सरीखे प्रभावशाली और मिलनसार व्यक्ति उनकी सभा के सदस्य हो जावें। किन्तु डाक्टर साहब को अपनी प्रैकटिस से कम फ़ुरसत मिलती थी। वे इन बातों से दूर ही दूर रहा करते थे।

इसी समय शुद्धी और संगठन की चर्चा ने जोर पकड़ा। शताब्दियों से सोए हुए हिन्दुओं ने जाना कि उनकी संख्या दिनोंदिन कम होती जा रही है और विधर्मियों की, विशेषकर मुसलमानों की संख्या बे-हिसाब बढ़ रही है। यदि यही क्रम चलता रहा तो, सौ डेढ़ सौ वर्ष बाद हिन्दुस्तान में हिन्दुओं का नाममात्र भले ही रह जाय, किन्तु हिन्दू तो कहीं ढूढ़ने से भी न मिलेंगे। सभी मुसलमान हो जायँगे। इसलिए धर्म-भ्रष्ट हिन्दू और दूसरे धर्मवालों को फिर से हिन्दू बनाने और हिन्दुओं के संगठन की सबको आवश्यकता मालूम होने लगी। आर्य समाज ने बहुत बड़ा आयोजन करके दस-पाँच शुद्धियाँ भी कर डालीं। हिन्दू समाज में बड़ी हलचल मच गई। बहुत से खुश थे; और बहुत से पुराने खयाल वाले इन बातों को अनर्गल समझते थे।

उधर मुसलमान भी उत्तेजित हो उठे, तंजीम और तबलीग की स्थापना कर दी गई। किन्तु डाक्टर मिश्रा पर इसका प्रभाव कुछ भी न पड़ता। हिन्दू और मुसलमान दोनों ही समान रूप से उनके पास आते थे, और वे दोनों की चिकित्सा दत्तचित्त होकर करते। दोनो जाति के बच्चों को समान भाव से प्यार करते। उनकी आँखों में हिन्दुओं

का शुद्धी-संगठन और मुसलमानों का तंज़ीम-तबलीग दोनों व्यर्थ के उत्पात थे।

[२]

एक दिन डाक्टर साहब अपने दवाख़ाने में बैठे थे कि एक घबराया हुआ व्यक्ति जो देखने से बहुत साधारण परि-स्थिति का मुसलमान मालूम होता था, उन्हें बुलाने आया। डाक्टर साहब के पूंछने पर उसने बतलाया कि उसकी स्त्री बहुत बीमार है। लगभग एक साल पहिले उसे बच्चा हुआ था उस समय वह अपने मां-बाप के घर थी। देहात में उचित देख-भाल न हो सकने के कारण वह बहुत बीमार हो गई तब रहमान उसे अपने घर लिवा लाया। लेकिन दिनों-दिन तबीयत ख़राब ही होती जाती है। डाक्टर साहब उसके साथ तांगे पर बैठकर बीमार को देखने के लिए चल दिए। एक तंग गली के मोड़ पर ताँगा रुक गया। यहीं ज़रा आगे कुलिया से निकल कर रहमान का घर था। मकान कच्चा था; सामने के दरवाजे पर एक टाट का परदा पड़ा था, जो दो-तीन जगह से फटा हुआ था। उस पर किसी ने पान की पीक मार दी थी। जिससे मटियाला सा लाल धब्बा बन गया था। सामने ज़रा सी

छपरी थी और बीच में एक कोठरी। यही कोठरी रहमान के सोने, उठने-बैठने की थी और यही रसोई-घर भी थी। रहमान बीड़ी बनाया करता था। गीले दिनों में यही कोठरी बीड़ी बनाने का कारखाना भी बन जाती थी। क्योंकि छपरी में बौछार के मारे बैठना मुश्किल हो जाया करता था। कोठरी में दूसरी तरफ एक दरवाज़ा और था जिससे दिख रहा था कि पीछे एक छोटी सी छपरी और है जिसके कोने में टट्टी थी और टट्टी से कुछ-कुछ दुर्गन्धि भी आरही थी। रहमान पहिले भीतर गया, डाक्टर साहब दरवाज़े के बाहर ही खड़े रहे। बाद में वे भी रहमान के बुलाने पर अंदर गये। उनके अंदर जाते ही एक मुर्गी जैसे नवागंतुक के भय से कुड़-कुड़ाती हुई, पंख फट-फटाती हुई, डाक्टर साहब के पैरों के पास से बाहर निकल गई। डाक्टर साहब को बैठने के लिए रहमान ने एक स्टूल रख दिया। उसकी स्त्री खाट पर लेटी थी।

वहाँ की गंदगी और कुंद हवा देख कर डाक्टर साहब घबरा गये। बीमार की नब्ज़ देखकर उन्होंने उसके फेफड़ों को देखा, परन्तु सिवा कमज़ोरी के और कोई बीमारी उन्हें न देख पड़ी।

वे बोले—इन्हें कोई बीमारी तो नहीं है, यह सिर्फ़ बहुत ज्याद: कमज़ोर हैं। आप इन्हें शोरबा देते हैं ?

रहमान—शोरबा यह जब लें तब न ? मैं तो कह-कह के तंग आ गया हूँ। यह कुछ खाती ही नहीं। दूध और साबूदाना खाती हैं, उससे कहीं ताक़त आती है ?

'क्यों' डाक्टर साहब ने पूछा "क्या इन्हें शोरबे से परहेज़ है ?

रहमान—परहेज़ क्या होगा डाक्टरसाहब ? कहती हैं कि हमें हज़म ही नहीं होता।

डाक्टर साहब ने हंसकर कहा—वाह, हज़म कैसे न होगा, हम तो कहते हैं, सब हज़म होगा।

—"डाक्टर साहब इतनी मेहरबानी और कीजिएगा कि शोरबा इन्हें आपही पिला जाइए, क्योंकि मैं जानता हूँ, यह मेरी बात कभी न मानेगीं।

डाक्टर साहब रहमान की स्त्री की तरफ़ मुड़कर बोले—कहिये, आप हमारे कहने से तो थोड़ा शोरबा ले सकती हैं न ? हज़म कराने का ज़िम्मा हम लेते हैं।

उसने डाक्टर के आग्रह का कोई उत्तर नहीं दिया; सिर्फ सिर हिलाकर अस्वीकृति की सूचना ही दी। उसके

मुँह पर लज्जा और संकोच के भाव थे। उसका मुँह दूसरी तरफ़ था जिससे साफ़ जाहिर होता था कि वह डाक्टर के सामने अपना मुँह ढाँक लेना चाहती है। डाक्टर साहब ने फिर आग्रह किया—आपको आज मेरे सामने थोड़ा शोरवा लेना ही पड़ेगा; इससे आपको जरूर फ़ायदा होगा।

इसपर भी उसने अस्वीकृति-सूचक सिर हिला दिया, कुछ बोली नहीं। इतने से ही डाक्टर साहब हताश न होने वाले थे। उन्होंने रहमान से पूछा कि शोरवा तैयार हो तो थोड़ा लाओ; इन्हें पिलावें।

रहमान उत्सुकता के साथ कटोरा उठाकर पिछवाड़े साफ़ करने गया। इसी अवसर पर उसकी स्त्री ने आँख उठाकर अत्यन्त कातर दृष्टि से डाक्टर साहब की ओर देखते हुए कहा " डाक्टर साहब मुझे माफ़ करें मैं शोरवा नहीं ले सकती"

स्वर कुछ परिचित सा था और आँखों में एक विशेष चितवन......जिससे डाक्टर साहब कुछ चकराए। एक धुँधली सी स्मृति उनके आँखों के सामने आ गई; उनके मुँह से अपने आप ही निकल गया "क्यों" ?

छलकती हुई आँखों से स्त्री ने जवाब दिया "आज एकादशी है"।

डाक्टर साहब चौंक-से उठे। विस्फारित नेत्रों से उसकी ओर देखते रह गये।

× × × ×

उसी दिन से डाक्टर मिश्रा भी शुद्धी और संगठन के पक्षपाती हो गये।

११

आहुति

[१]

जनाने अस्पताल के पर्दा-वार्ड में दो स्त्रियों को एक ही दिन बच्चे हुए। कमरा नं० ५ में बाबू राधेश्याम जी की स्त्री मनोरमा को दूसरी बार पुत्र हुआ था। उन्हें प्रसूत-ज्वर हो गया था। उनकी अवस्था चिन्ताजनक थी। वे मृत्यु की घड़ियाँ गिन रही थीं। कमरा नं० ६ में कुन्तला की मां के सातवाँ बच्चा, लड़की हुई थी। मां-बेटी दोनों स्वस्थ और प्रसन्न थीं। घर में कोई बड़ा आदमी न होने के कारण मां की देख-भाल कुन्तला ही करती थी। उसके पिता एक दफ्तर में नौकरी करते

थे। उन्हें पत्नी की देख-भाल करने की फ़ुर्सत ही कहाँ थी ?

पं० राधेश्याम जी एडवोकेट, अपनी मां और कई नौकरों के रहते हुए भी पत्नी को छोड़कर कहीं न जाते थे। दस दिन के बाद कुन्तला की मां पूर्ण स्वस्थ होकर बच्ची समेत अपने घर चली गई और उसी दिन राधेश्याम जी की स्त्री का देहान्त हो गया। अपने नवजात शिशु को लेकर वे भी घर आए। किन्तु पत्नी-विहीन घर उन्हें जंगल से भी अधिक सूना मालूम हो रहा था।

[२]

पत्नी के देहान्त के बाद राधेश्याम जी ने दृढ़ निश्चय कर लिया था कि वे दूसरा विवाह न करेंगे; मनोरमा पर उनका अत्यन्त अधिक प्रेम था। वह अपना चिन्ह स्वरूप जो एक छोटा सा बच्चा छोड़ गई थी, वही राधेश्याम जी का जीवनाधार था। वे कहते थे कि इसी को देखकर और मनोरमा की मूर्ति की पूजा करते हुए ही अपने जीवन के शेष दिन बिता देंगे। जिस हृदय-मन्दिर में वे एक बार मनोरमा की पवित्र मूर्ति की स्थापना कर चुके थे, वहाँ पर किसी दूसरी प्रतिमा को स्थापित नहीं कर सकते थे। घर से उन्हें विरक्ति-सी हो गई थी। भीतर वे बहुत

कम आते। अधिकतर बाहर बैठक में ही रहा करते। घर में आते ही वहाँ की एक-एक वस्तु उन्हें मनोरमा की स्मृति दिलाती। उनका हृदय विचलित हो जाता। जिस कमरे में मनोरमा रहा करती थी, उसमें सदा ताला पड़ा रहता। उस कमरे में वे उस दिन से कभी न गये थे जिस दिन से मनोरमा वहाँ से निकली थी। जीवन से उन्हें वैराग्य-सा हो गया था। आने-जाने वालों को वे संसार की असारता और शरीर की नश्वरता पर लेक्चर दिया करते। कचहरी जाते, वहाँ भी जी न लगता। जिन लोगों से पचास रुपया फ़ीस लेनी होती उनका काम पच्चीस में ही कर देते। ग़रीबों के मुकद्दमों में वे बिना फ़ीस के ही खड़े हो जाते। सोचते, रुपये के पीछे हाय-हाय करके करना ही क्या है? किसी तरह जीवन को ढकेल ले जाना है। तात्पर्य यह कि जीवन में उन्हें कोई रुचि ही न रह गई थी।

दूसरे विवाह की बात आते ही, उनकी गंभीर मुद्रा को देखकर किसी को अधिक कहने-सुनने का साहस ही न होता। अतएव सभी यह समझ चुके थे कि राधेश्याम जी अब दूसरा विवाह न करेंगे। उनकी माता ने भी उनसे अनेक बार दूसरे विवाह के लिए कहा; किन्तु वे

टस से मस न हुए। अन्त में वे अपनी इस इच्छा को साथ ही लिए हुए इस लोक से विदा हो गईं।

इसके कुछ ही दिन बाद, राधेश्याम जी जब एक दिन अपनी बैठक में कुछ मित्रों के साथ बैठे थे, और बाहर उनका लड़का हरिहर नौकर के साथ खेल रहा था, सामने से एक ताँगा निकला। न जाने कैसे तांगे का एक पहिया निकल गया और ताँगा कुछ दूर तक घिसटता हुआ चला गया। एक सात-आठ साल का बालक तांगे पर से गिर पड़ा और एक बालिका जो कदाचित् उसकी बड़ी बहिन थी गिरते गिरते बच कर दूसरी तरफ खड़ी हो गई। बालक को अधिक चोट आई थी। बालिका ने, मृगशावक की तरह घबराये हुए अपने दो सुन्दर नेत्र चंचल गति से सहायता के लिए चारों ओर फेरे और फिर अपने भाई को उठाने लगी। राधेश्याम जी ने देखा, और दौड़ पड़े; बालक को उठा कर झाड़ने पोंछने लगे। राधेश्याम के एक मित्र जगमोहन जो राधेश्याम के साथ ही दौड़ कर बाहर आए थे, बालिका को सम्बोधन कर के बोले—

—"कहाँ जा रही थीं कुन्तला ?"

—"मौसी के घर जनेऊ है; वहीं अम्मा के पास जा रही थी", कुन्तला ने शरमाते हुए कहा।

कुन्तला को देखते ही राधेश्याम जी की एक सोई हुई स्मृति जाग सी उठी। दूसरा तांगा बुलवा कर कुन्तला को उसमें बैठा कर उसे रवाना करके राधेश्याम जगमोहन के साथ अपनी बैठक में आ गये।

[३]

एक दिन बात ही बात में राधेश्याम ने जगमोहन से पूछा "भाई! वह किसकी लड़की थी जो उस दिन तांगे पर से गिर पड़ी थी?"

जगमोहन ने बतलाया ;कि—वह पंडित नंदकिशोर तिवारी की कन्या है। पढ़ी-लिखी, गृह-कार्य में कुशल और सुन्दर होने पर भी धनाभाव के कारण वह अभी तक कुमारी है। बेचारे तिवारी जी ५०) माहवार पर एक आफिस में नौकर हैं। बड़ा परिवार है, ५०) में तो खाने-पहिनने को भी मुश्किल से पूरा पड़ता होगा। फिर लड़की के विवाह के लिए दो-तीन हज़ार रुपये कहाँ से लावें? कान्यकुब्जों में तो बिना

ठहरौनी के कोई बात ही नहीं करता। कष्ट ही में हैं विचारे। लड़की सयानी है। पढ़ा-लिखा कर किसी मूर्ख के गले भी तो नहीं बांधते बनता।

एक बार तिवारी जी पर उपकार करने की सद्भावना से राधेश्याम जी का हृदय आतुर हो उठा; किन्तु तुरन्त ही मनोरमा की स्मृति ने उन्हें सचेत कर दिया। तिवारी जी पर उपकार करना, मनोरमा को हृदय से भुला देना था। राधेश्याम को जैसे कोई भूली बात याद आ गई हो; वे अपने आप ही सिर हिलाते हुए बोल उठे, "नहीं, यह कभी नहीं हो सकता।" राधेश्याम के हृदय की हलचल को जगमोहन ने ताड़ लिया। वार करने का उन्होंने यही उपयुक्त अवसर समझा; सम्भव है, निशाना ठीक पड़े।

जग०—तुम क्या कहते हो राधेश्याम? है न लड़की बड़ी सुन्दर? पर बिचारी को कोई योग्य वर ही नहीं मिलता। अगर तुम इससे विवाह कर लो तो कैसा रहे?

राधेश्याम उदासीनता से बोले—भाई लड़की सुन्दर तो ज़रूर है; पर मैंने तो विवाह न करने की प्रतिज्ञा कर ली है।

जगमोहन उत्साह भरे शब्दों में बोले—अरे छोड़ो भी!

ऐसी प्रतिज्ञा तो पत्नी के देहान्त के बाद सभी कर लेते हैं। उसके माने यह थोड़े हैं, कि फिर कोई विवाह करता ही नहीं। अरे भाई! जन्म और मृत्यु तो जीवन में लगा ही रहता है। संसार में जो पैदा हुआ है वह मरेगा, जो मरा है वह फिर आएगा। रंज किसे नहीं होता? किन्तु उस रंज के पीछे बैरागी थोड़े बन जाना पड़ता है। और फिर अभी तुम्हारी उमर ही क्या है? यही न; पैंतीस-छत्तीस साल की, बस? जीवन भर तपस्या करने की बात है। बिना स्त्री का घर जंगल से भी बुरा रहता है। ब्रजेश की माँ चार ही छै दिनों के लिए मायके चली जाती है तो घर जैसे काट खाने को दौड़ता है।

राधेश्याम—यह कोई बात नहीं, जगमोहन! घर से तो मुझे कुछ मतलब ही नहीं है। जिस दिन से मनोरमा का देहान्त हुआ, घर मेरे लिए घर ही नहीं रह गया। बात इतनी है कि बच्चे की देख-भाल करने वाला अब कोई नहीं है। अम्मा थीं, तब तक तो कोई बात ही न थी। पर अब बच्चे की कुछ भी देख-भाल नहीं होती। नौकरों पर बच्चे को छोड़ देना उचित नहीं, और मैं कितनी देख-भाल कर सकता हूं, तुम्हीं सोचो? परिणाम यह

हुआ है कि बच्चा दिनोंदिन कमज़ोर होता जा रहा है।

× × × ×

राधेश्याम का विवाह कुन्तला के साथ होगया। उनकी उजड़ी हुई गृहस्थी में फिर से बहार आगई। मनोरमा के बंद कमरे का ताला खोलकर उसके चित्रों पर हल्की रंगीन जाली का परदा डाल दिया गया। उस घर में फिर से नूपुर की मधुर ध्वनि सुनाई पड़ने लगी। चतुर गृहणी का हाथ लगते ही घर फिर स्वर्ग हो गया। कुन्तला की कार्य-कुशलता और बुद्धि की कुशाग्रता पर राधेश्याम मुग्ध थे। कुन्तला के प्रेम के प्रकाश से उनका हृदय आलोकित हो उठा। अब वहाँ पर मनोरमा की धुँधली स्मृति के लिए भी स्थान न था; वे पूर्ण सुखी थे।

[४]

राधेश्याम जी ने दूसरा विवाह किया था; संभवतः हरिहर की देख-भाल के ही लिए। किन्तु इस समय कुन्तला को हरिहर से भी अधिक राधेश्याम की देख-भाल करनी पड़ती थी। उनकी देख-भाल से ही वह इतनी परेशान हो

जाती, इतनी थक जाती कि उसे हरिहर की तरफ़ आँख उठाकर देखने का भी अवसर न मिलता।

कुन्तला के असाधारण रूप और यौवन ने तथा राधेश्याम जी की ढलती अवस्था ने उन्हें आवश्यकता से अधिक असावधान बना दिया था।

बुरा भला कैसा भी काम हो, सब की एक सीमा होती है। राधेश्याम के इस अनाचार से कुन्तला को जो मानसिक वेदना होती सो तो थी ही; किन्तु इसका प्रभाव उसके स्वास्थ्य पर भी पड़े बिना न रहा। कुंदन की तरह उसका चमकता हुआ रंग पीला पड़ गया; आंखें निस्तेज हो गईं। छै महीने की बीमार मालूम होती। वैसे ही वह स्वभाव से सुकुमार थी। अब चलने में उसके पैर कांपते; सदा हाथ-पैर में दर्द बना रहता; जी सदा ही अलसाया रहता; खाट पर लेट जाती तो उठने की हिम्मत ही न पड़ती। कुंतला की इस अवस्था से राधेश्याम अनभिज्ञ हों, सो बात न थी; उन्हें सब मालूम था। कभी कभी ग्लानि और पश्चाताप उन्हें भले ही होता; किन्तु लाचार थे।

कहते हैं कि ढलती उमर का विवाह और विशेषकर दूसरे विवाह की सुन्दर स्त्री मनुष्य को पागल बना देती है। था भी कुछ ऐसा ही।

कुन्तला अपने जीवन से बेज़ार-सी हो रही थी।

किन्तु वह राधेश्याम को किस प्रकार रोक सकती थी? क्योंकि वह उनकी विवाहिता पत्नी ठहरी। सात भांवरे फिर लेने के बाद राधेश्याम को तो उसके शरीर की पूरी मॉनापोली सी (monopoly) मिल चुकी थी न।

[५]

इधर कुछ दिनों से शहर में एक स्त्री-समाज की स्थापना हुई थी। एक दिन उसकी कार्य-कारिणी की कुछ महिलाएँ आकर कुन्तला को भी निमंत्रण दे गईं। कुन्तला ने सोचा, अच्छा ही है; घंटे-दो-घंटे घर से बाहर रहकर, अपने इस जीवन के अतिरिक्त और भी देखने और सोचने-समझने का अवसर मिलेगा। उसने निमंत्रण स्वीकार कर लिया; और वहाँ गई भी। वहाँ जितनी स्त्रियों ने भाषण पढ़े या दिए, कुन्तला ने सुने; उसने सोचा वह इन सबसे अधिक अच्छा लिख सकती है और बोल सकती है। घर आकर

उसने भी एक लेख लिखा; विषय था "भारत की वर्तमान सामाजिक अवस्था में स्त्रियों का स्थान।" राधेश्याम जी ने भी लेख देखा। बहुत ही प्रसन्न हुए, लेख लिए हुए वे बाहर गए; बैठक में कई मित्र बैठे थे; उन्हें दिखलाया। सभी ने लेखिका की शैली एवं सामयिक ज्ञान की प्रशंसा की।

अपने एक साहित्य-सेवी मित्र अखिलेश्वर को लेकर राधेश्याम भीतर आए; कुन्तला को पुकार कर बोले—"कुन्तला, तुम्हारा लेख बहुत ही अच्छा है; मुझे नहीं मालूम था कि तुम इतना अच्छा लिख सकती हो, नहीं तो तुमसे सदा लिखते रहने का आग्रह करता। तुम्हारे इस लेख में कहीं भाषा की त्रुटियाँ हैं जरूर, पर ये मेरे मित्र अखिलेश्वर ठीक कर देंगे। अब तुम रोज कुछ लिखा करो; ये ठीक कर दिया करेंगे। मुझे तो भाषा का ज्ञान नहीं; अन्यथा मैं ही देख लिया करता। खैर कोई बात नहीं; यह भी घर ही के-से आदमी हैं। कुन्तला के लेखों के देखने का भार अखिलेश्वर को सौंप कर राधेश्याम को बहुत सन्तोष हुआ।

कुन्तला को अब एक ऐसा साथी मिला था, जिसकी

आवश्यकता का अनुभव वह बहुत दिनों से कर रही थी; जो उसे घरेलू जीवन के अतिरिक्त और भी बहुत-सी उपयोगी बातें बता सकता था; जो उसे अच्छे से अच्छे लेखक और कवियों की कृतियों का रसास्वादन करा के साहित्यिक-जगत की सैर करा सकता था। कुन्तला अखिलेश्वर का साथ पाकर बहुत सन्तुष्ट थी। अब उसे अपना जीवन उतना कष्टमय और नीरस न मालूम होता था। कुन्तला और अखिलेश्वर प्रतिदिन एक बार अवश्य मिला करते। कुन्तला की अभिरुचि साहित्य की ओर देखकर, उसकी विलक्षण कुशाग्र बुद्धि एवं लेखन-शैली की असाधारण प्रतिभा पर अखिलेश्वर मुग्ध थे। वे उसे एक सुयोग्य रमणी बनाने में तथा उसकी प्रतिभा को पूर्ण रूप से विकसित करने में सदा प्रयत्नशील रहते थे। लाइब्रेरी में जाते; अच्छी से अच्छी पुस्तकें लाते; और उसे घंटों पढ़कर सुनाया करते। कविवर-शैली, टेनीसन और कीटस् तथा महाकवि शेक्सपीयर इत्यादि की ऊंचे दरजे की कविताएँ पढ़कर उसे समझाते, उसके सामने व्याख्या तथा आलोचना करते और उससे करवाते। हिन्दी के धुरंधर कवियों की रचनाएँ सुना कर वे कुन्तला की

प्रवृत्ति कविता की ओर फेरना चाहते थे। उनका विश्वास था कि कुन्तला लेखों से कहीं अच्छी कविताएँ लिख सकेंगी। किन्तु अब राधेश्याम को कुन्तला के पास अखिलेश्वर का बैठना अखरने लगा था। वे कभी-कभी सोचते, शायद कुन्तला के सुन्दर रूप पर ही रीझ कर अखिलेश्वर उसके साथ इतना समय व्यतीत करते हैं। किन्तु वे प्रकट में कुछ न कह सकते थे; क्योंकि उन्होंने स्वयं ही तो उनका आपस में परिचय कराया था। कुन्तला राधेश्याम के मन की बात कुछ-कुछ समझती थी; इसलिए वह बहुत सतर्क रहती। किन्तु फिर भी यदि कभी भूल से उसके मुंह से अखिलेश्वर का नाम निकल जाता तो राधेश्याम के हृदय में ईर्षा की अग्नि भभक उठती। अब अखिलेश्वर के लिए राधेश्याम के हृदय में मित्र भाव की अपेक्षा ईर्षा का भाव ही अधिक था।

इन्हीं दिनों कुन्तला ने दो चार तुकबन्दियाँ भी कीं। जिनमें कल्पना की बहुत ऊँची उड़ान और भावों का बहुत सुन्दर समावेश था। किन्तु शब्दों का संगठन उतना अच्छा नहीं था। अपने हाथ के लगाए हुए पौधों में फूल आते देख कर जिस प्रकार किसी चतुर माली को प्रसन्नता होती है, उसी प्रकार कुन्तला की कविताएँ देख कर

अखिलेश्वर खुश हुए; उन्होंने कविताएँ कई बार पढ़ीं और राधेश्याम को भी पढ़कर सुनाईं। कुन्तला की बुद्धि की बड़ी प्रशंसा की; किन्तु राधेश्याम खुश न हुए। उन्हें ऐसा मालूम हुआ कि जैसे कुन्तला ने अखिलेश्वर के विरह में ही विकल होकर यह कविताएं लिखी हैं।

अखिलेश्वर निष्कपट और निःस्वार्थ भाव से ही कुन्तला का शिक्षण कर रहे थे। उन्हें कुन्तला से कोई विशेष प्रयोजन न था। कुन्तला के इस शिक्षण से उन्हें इतना ही आत्म-सन्तोष था कि वे साहित्य की एक सेविका तैयार कर रहे हैं जिसके द्वारा कभी न/ कभी साहित्य की कुछ सेवा अवश्य होगी। राधेश्याम के हृदय में इस प्रकार उनके प्रति ईर्षा के भाव प्रज्वलित हो चुके हैं, इसका उन्हें ध्यान भी न था।

[६]

अखिलेश्वर कई दिनों तक लगातार बीमार रहने के कारण घर के बाहर न निकल सके। खाट पर अकेले पड़े-पड़े धन्नियां गिनते हुए उन्हें अनेक वार कुन्तला की याद आई। कई वार उन्होंने सोचा कि उसे

बुलवा भेजें; फिर भी जाने क्या आगा-पीछा सोच कर वे कुन्तला को न बुला सके। इधर कई दिनों से अखिलेश्वर का कुछ भी समाचार न पाकर कुन्तला भी उनके लिए उत्सुक थी। वह बार-बार सोचती, एकाएक इस प्रकार आना क्यों बन्द कर दिया ? क्या बात हो गई ? किन्तु वह अखिलेश्वर के विषय में राधेश्याम से कुछ पूछते हुए डरती थी। इसी बीच में एक दिन कुन्तला की मां ने कुन्तला को बुलवा भेजा। राधेश्याम कुन्तला से यह कह कर कि जब तांगा आवे तुम चली जाना, कचहरी चले गए। कुन्तला मां के घर जाकर जब वहाँ से ३ बजे लौट रही थी तो उसे रास्ते में हाथ में दवा की शीशी लिए हुए अखिलेश्वर का नौकर मिला। नौकर से मालूम करके कि अखिलेश्वर बीमार हैं, कई दिनों तक तेज बुखार रहा है, अब भी कई दिनों तक घर से बाहर न निकल सकेंगे, कुन्तला अपने को न रोक सकी। क्षण भर के लिए अखिलेश्वर से मिलने के लिए उसका हृदय व्याकुल हो उठा। अखिलेश्वर के मकान के सामने पहुँचते ही ताँगा रुकवा कर वह अन्दर चली गई। साथ में उसकी छोटी बहिन भी थी।

अचानक कुन्तला को अपने कमरे में देखकर अखि-

लेश्वर को विस्मय और आनन्द दोनों ही हुए। अपनी खाट के पास ही कुन्तला के बैठने के लिए कुरसी देकर वे स्वयं उठ कर खाट पर बैठ गये; बोले—"कुन्तला ! तुम कैसे आ गईं ? इस बीमारी में तो मैंने तुम्हारी बहुत याद की ।"

इसी समय राधेश्याम जी ने कमरे में प्रवेश किया। कुन्तला कुछ भी न बोल पाई । राधेश्याम को देखते ही अखिलेश्वर ने कहा—"आओ भाई, राधेश्याम ! आज कुन्तला आई तो तुम भी आए; नहीं तो आज आठ दिन से बीमार पड़ा हूँ, रोज़ ही तुम्हारी याद करता था; पर तुम लोग कभी न आए।" फिर घड़ी की ओर देखकर बोले—"आज तीन ही बजे कचहरी से कैसे लौट आए ?"

राधेश्याम ने रुखाई से उत्तर दिया—कोई काम नहीं था; इसलिये चला आया ? फिर पत्नी की ओर मुड़कर बोले—"चलो चलती हो ? मैं तो जाता हूँ ।"

अखिलेश्वर ने बहुत रोकना चाहा, पर वे न रुके; चले ही गये। उनके पीछे-पीछे कुन्तला भी चली। जाते-जाते उसने अखिलेश्वर पर एक ऐसी मार्मिक दृष्टि डाली जिसमें न जाने कितनी करुणा, कितनी विवशता, कितनी

कातरता, और कितनी दीनता थी। कुन्तला चली गई; किन्तु उसकी इस करुण-दृष्टि से अखिलेश्वर की आंखें खुल गईं। राधेश्याम के आन्तरिक भावों को वे अब समझ सके।

घर पहुँच कर कुन्तला कुछ न बोली। वह चौके में चली गई। कुछ ही क्षण बाद उसने लौट कर देखा कि उसके लेख, कविताएं, कापियाँ, पेन्सिलें और अखिलेश्वर द्वारा उपहार में दी हुई फाउन्टेन पेन, सब समेट कर किसी ने आग लगा दी है। उसी अग्नि में अखिलेश्वर का वह प्यारा चित्र जो कुछ ही क्षण पहिले ड्राइंग रूम की शोभा बढ़ा रहा था धू-धू करके जल रहा है। ऊपर उठती हुई लपटें मानों कह रही हैं कि "कुन्तला यह तुम्हारे साहित्यिक-जीवन की चिता है।"

थाती

[१]

क्यों रोती हूँ। इसे नाहक पूँछ कर जले पर नमक न छिड़को! जरा ठहरो! जी भर कर रो भी तो लेने दो; न जाने कितने दिनों के बाद आज मुझे खुलकर रोने का अवसर मिला है। मुझे रोने में सुख मिलता है; शान्ति मिलती है। इसीलिए मैं रोती हूँ। रहने दो; इसमें बाधा न डालो; रोने दो।

क्या कहा? 'किसके लिए रोती हूँ'? आह!! उसे सुनकर क्या करोगे? उससे तुम्हें कुछ लाभ न होगा; पूछो ही न तो अच्छा है। मेरी यह पीड़ा ही तो मेरी सम्पत्ति

है, जिसे मैं बड़ी सावधानी से अपने हृदय में छिपाए हूँ। इतने पर भी सुनना ही चाहते हो तो लो कहती हूँ; किन्तु देखो ! जो कहूँ वही सुनना और कुछ न पूछना।

वे एक धनवान माता-पिता के बेटे थे। ईश्वर ने उन्हें अनुपम रूप दिया था। जैसा उनका कलेवर सुन्दर था, उससे कहीं अधिक सुन्दर था उनका हृदय। वे बड़े ही नेक, दयालु और उदार प्रकृति के पुरुष थे। गाँव के बच्चे उन्हें देखते ही ख़ुश हो जाते, बूढ़े आशीर्वाद की वर्षा करते, स्त्रियाँ उन्हें अपना सच्चा भाई और हितू समझतीं और नवजवान उनके इशारे पर नाचते थे। तात्पर्य यह कि वे सभी के प्यारे थे और सभी पर उनका स्नेह था।

मैं उन्हीं के गाँव की बहू थी। मेरे पति वहीं प्राइमरी पाठशाला में मास्टर थे। घर में बूढ़ी सास थीं, मेरे पति थे और मैं थी। मँहगी का ज़माना था; २८।।) में मुश्किल से गुज़र होती थी। घर के प्रायः सभी छोटे-मोटे काम हाथ से ही करने पड़ते थे।

एक दिन की बात है, मैं वैसे ही ब्याह कर आई थी। मैं थी शहर की लड़की; वहाँ तो नलों से काम चलता था; भला कुएं से पानी भरना मैं क्या जानती? मेरी

सास मुझे अपने साथ कुएँ पर पानी भरना सिखा रही थीं। अचानक वे न जाने कहाँ से आगए, हँसकर बोले—"क्या पानी भरने की शिक्षा दे रही हो, माँ जी? आपने ऐसी अल्हड़ लड़की व्याही ही क्यों, जिसे पानी भरना भी नहीं आता।" मैंने घूँघट के भीतर ही ज़रा सा मुस्कुरा दिया।

सास ने कहा—बेटा! इसे कुछ नहीं आता! बस रोटी भर अच्छा बनाती है, न पीसना जाने न कूटना। गोबर से तो इसे जैसे घिन आती हो, बड़ी मुश्किल से तो कहीं कंडे थापती है, तो उसके बाद दस बार हाथ धोती है। हम तो बेटा! ग़रीब आदमी हैं। हमारे घर में तो सभी कुछ करना पड़ेगा।

[२]

दूसरे दिन मुझे अकेली ही पानी भरने जाना पड़ा। मैं रस्सी और घड़ा लेकर पानी भरने गई तो ज़रूर, पर दिल धड़क रहा था—कि बनता है या नहीं। न सास साथ थीं, और न कोई कुएँ पर ही था। मैंने घूँघट खोल लिया। और रस्सी को अच्छी तरह से घड़े के मुँह से बाँध कर कुएँ में डाल दिया। 'डब' 'डब' करके बड़ी देर में कहीं

घड़े में पानी भरा—उसे खींचने लगी। किसी प्रकार खिंचता ही न था। ज्यों-त्यों करके आधी रस्सी खींच पाई थी कि वे सामने से आते हुए दिखाई दिए। कुँआ उनके अहाते के ही अन्दर था और बंगले में जाने का रास्ता भी वहीं से था। सामने से वे आते हुए दिखे, लाज के मारे ज्योंही मैंने घूँघट सरकाने के लिए एक हाथ से रस्सी छोड़ी, त्योंही अकेला दूसरा हाथ, पानी से भरे हुए घड़े का वजन न सम्हाल सका। झटके के साथ रस्सी समेत घड़ा कुँए में जा गिरा। मैं भी गिरते-गिरते बची। एक मिनट में यह सब कुछ हो गया। वे बंगले से कुँए के पास आ चुके थे। मैं बड़ी घबराई, घूँघट-ऊँघट सरकाना तो भूल गई। झुक-कर कुँए में देखने लगी। मेरे पास तो रस्सी और घड़ा निकालने का कोई साधन ही न था; निरुपाय हो कातर दृष्टि से उनकी ओर देखा। मेरी अवस्था पर शायद उन्हें दया आई। वे पास आकर बोले—"आप घबराइए नहीं, मैं अभी घड़ा निकलवाए देता हूँ," फिर कुछ रुककर मुस्कराते हुए बोले—"किन्तु आपने यह साबित कर दिया कि आप शहर की एक अल्हड़ लड़की हैं।"

मैं ज़रा हँसी और अपना घूँघट सरकाने लगी। मुझे

घूँघट सरकाते देख वे ज़रा मुस्कराए; मैं भी ज़रा हँस पड़ी; पर कुछ बोली नहीं। उनके नौकर आए और देखते ही देखते रस्सी समेत घड़ा निकाल लिया गया। मैं घड़ा उठाकर अपने घर की तरफ़ चली। शब्दों में नहीं; किन्तु कृतज्ञता भरी आँखों से मैंने उनसे कहा—मैं आपके इस उपकार का बदला इस जीवन में कभी न चुका सकूँगी"। क़रीब पौन घंटा कुँए पर लग गया। अम्मा जी की घुड़कियों का डर तो लगा ही था। जल्दी जल्दी आई घड़े को घिनौंची पर रख, रस्सी को खूँटी पर टाँगने के लिए मैंने ज्योंही हाथ ऊपर उठाया, देखा कि एक हाथ का सोने का कंगन नहीं है। तुम कहोगे कि पानी भरने वाली और सोने का कंगन, यह कैसा मेल! वह भी बताती हूँ—यह कंगन मेरी माँ का था। मरते समय उन्होंने अनुरोध किया था कि वह कंगन व्याह के समय मुझे पैर-पुजाई में दिया जाय। इस प्रकार वह कंगन मुझे मिला था। रस्सी टाँग कर मैं फिर कुँए की तरफ़ भागी, देखा तो वे सामने से आ रहे थे। उन्होंने यह कहकर कि "यह तुम्हारे अल्हड़पन की दूसरी निशानी है" कंगन मेरी तरफ़ बढ़ा दिया। कंगन लेकर चुपचाप मैंने जेब में रख लिया और जल्दी जल्दी घर आई।

[३]

घर आकर देखा, पतिदेव स्कूल से लौटे थे। अम्मा जी बड़े क्रोध में उनसे कह रहीं थीं—

देखा नई बहू के लच्छन। एक घड़ा पानी भरने गई तो घंटे भर बाद लौटी, और यहाँ पानी रख कर फिर दीवानी की तरह कुएँ की तरफ़ भागी। मैंने तो पहिले ही कहा था कि शहर की लड़की न व्याहो; पर तुम न माने। बेटा! भला यह हमारे घर निभने के लच्छन हैं? और सब तो सब, पर जमींदार के लड़के से बात किये बिना इसकी क्या अटकी थी? यह इधर से भागी जा रही थी वह सामने से आ रहा था। उसने जाने क्या इसे दिया और इसने लेकर जेब में रख लिया। मुझे तो यह बातें नहीं सुहाती! फिर तुम्हारी बहू है; तुम जानो; बिगाड़ो चाहे बनाओ। मेरी तरफ़ उन्होंने गुस्से से देखकर पूँछा— क्या है तुम्हारी जेब में बतलाओ तो!

मैंने कंगन निकालकर उनके सामने रख दिया। वे फिर डाँट कर बोले—"यह उसके पास कैसे पहुँचा"?

मैंने डरते-डरते अपराधिनी की तरह आदि से लेकर

अंत तक कुए पर का सारा क़िस्सा उन्हें सुना दिया। इस पर अम्मा जी और पतिदेव दोनों ही की झिड़कियाँ मुझे सहनी पड़ीं। साथ ही ताक़ीद भी कर दी गई कि मैं अब उनसे कभी न बोलूं।

× × × ×

क्या पूछते हो? उनका नाम? रहने दो; मुझसे नाम न पूछो। उनका नाम ज़बान पर लाने का मुझे अधिकार ही क्या है? तुम्हें तो मेरी कहानी से मतलब है न? हाँ, तो मैं क्या कह रही थी?—मुझसे कहा गया कि मैं उनसे कभी न बोलूं। यदि यह लोग फिर कभी मुझे उनसे बोलते देख लेंगे तो फिर कुशल नहीं। मैंने दीन भाव से कहा, "मुझसे घर के सब काम करवा लो; परन्तु कल से मैं पानी भरने न जाऊंगी।"

इस पर पतिदेव बिगड़ कर बोले—तुम पानी भरने न जाओगी तो मैं तुम्हें रानी बना कर नहीं रख सकता। यहाँ तो जैसा हम कहेंगे वैसा करना पड़ेगा।

उसके बाद क्या बतलाऊँ कि क्या-क्या हुआ? ज्यों-ज्यों मुझे उनसे बोलने को रोका गया, त्यों-त्यों एक बार जी भर कर उनसे बात करने के लिए मेरी उत्कंठा प्रबल होती

गई। किन्तु मेरी यह साध कभी पूरी न हुई। वे जाते-जाते एक-दो बातें बोल दिया करते, जिसके उत्तर में मैं केवल हँस दिया करती थी; लेकिन लोग यह भी न सह सके और तिल का ताड़ बन गया।

अब मुझ पर घर में अनेक प्रकार के अत्याचार होने लगे। हर दो-चार दिन बाद मुझ पर मार भी पड़ती; परन्तु मैं कर ही क्या सकती थी? मैं तो उनसे बोलती भी न थी। और उनका बोलना बन्द करना मेरी शक्ति से परे था। उन्होंने मुझसे कभी भी कोई ऐसी बात नहीं कही जो अनुचित कही जा सके। उन्हें तो शायद विधाता ने ही रोते हुओं को हँसा देने की कला सिखाई थी। वे ऐसी मीठी चुटकी लेते। कभी कोई हँसी की बात भी कहते तो इतनी सभ्यता से इतनी नपी-तुली कि मैं चाहे जितनी दुखी होऊँ, चाहे जितने रंज में होऊँ पर हँसी आ ही जाती थी।

किन्तु धीरे-धीरे मुझ पर होने वाले अत्याचारों का पता उन्हें लग ही गया। उनके दयालु हृदय को इससे गहरी चोट पहुँची। उस दिन, अन्तिम दिन जब मैं पानी भरने गई, वे कुए पर आए और मुझसे बोले, "मैं तुमसे कुछ कहना चाहता हूँ।"

इनके स्वर में पीड़ा थी, शब्दों में माधुर्य, और आँखों में न जाने कितनी करुणा का सागर उमड़ रहा था। मैंने आश्चर्य के साथ उनकी ओर देखा; आज पहिली ही वार तो इस प्रकार वे मेरे पास आकर बोले थे; उन्होंने कहा—"पहिली बात, जो मैं तुमसे कहना चाहता हूँ वह यह कि, मेरे ही कारण तुम पर इतने अत्याचार हो रहे हैं, यदि मुझे इसका पता चल जाता तो वे अत्याचार कब के बन्द हो चुके होते। दूसरी बात जो मैं तुमसे कहने आया हूँ वह यह कि आज से मैं तुम पर होनेवाले अत्याचार की जड़ ही उखाड़ कर फेंके देता हूँ। तुम खुश रहना, मेरी अल्हड़ रानी! (वे मुझे इसी नाम से पुकारा करते थे) यदि मैं तुम्हें भूल सका तो फिर यहाँ लौटकर आऊँगा; नहीं तो आज ही सदा के लिए विदा होता हूँ।"

मुझ पर बिजली सी गिरी। मैं कुछ बोल भी न पाई थी कि वे मेरी आंखों से ओझल हो गए। अब मेरी हालत पहिले से ज्याद: खराब थी। मेरा किसी काम में जी न लगता था। कलेजे में सदा एक आग सी सुलगा करती; परन्तु मुझे खुल कर रोने का अधिकार न था। अब तो सभी लोग मुझे पागल कहते हैं। मैं कुछ भी करूँ, करने देते हैं; इसी लिए तो आज खुल कर रो सकती हूँ; और तुम्हें

भी अपनी कहानी सुना सकती हूँ। किन्तु क्या तुम बता सकोगे कि वे कहाँ हैं? मैं एक बार उन्हें और देखना चाहती हूँ। मेरी यह पीड़ा, मेरा यह उन्माद उन्हीं का दिया हुआ तो है। यदि कोई सहृदय उनका पता बता दे तो मैं उनकी थाती उन्हीं को सौंप दूँ।

अमराई

[१]

उस अमराई में सावन के लगते ही झूला पड़ जाता और विजयादशमी तक पड़ा रहता। शाम-सुबह तो बालक-बालिकाएँ और रात में अधिकतर युवतियाँ उस झूले की शोभा बढ़ातीं। यह उन दिनों की बात है जब सत्याग्रह आन्दोलन अपने पूर्ण विकास पर था। सारे भारतवर्ष में समराग्नि धधक रही थी। दमन का चक्र अपने पूर्ण वेग से चल रहा था। अखबारों में लाठी-चार्ज, गोली-काण्ड, गिरफ़तारी और सजा की धूम के अतिरिक्त और कुछ रहता ही न था। इस गांव में भी सरकार के दमन का चक्र चल चुका था। कांग्रेस के

सभापति और मंत्री पकड़ कर जेल में बन्द कर दिए गए थे।

इस दिन राखी थी। बहिनें अपने भाइयों को सदा इस अमराई में ही राखी बांधा करती थीं। यहाँ सब लोग एकत्रित होकर त्योहार मनाया करते थे। बहिनें भाइयों को पहिले कुछ खिलातीं, माला पहिनातीं, हाथ में नारियल देतीं और तिलक लगा कर हाथ में राखी बांधते हुए कहतीं, "भाई इस राखी की लाज रखना; लड़ाई के मैदान में कभी पीठ न दिखाना।"

एक तरफ तो राखी का चित्ताकर्षक दृश्य था। दूसरी ओर छोटे-छोटे बच्चे और बच्चियाँ झूले पर झूल रहे थे। उनके सुकुमार हृदयों में भी देश-प्रेम के नन्हें-नन्हें पौधे प्रस्फुटित हो रहे थे। बहादुरी के साथ देश के हित के लिए फांसी पर लटक जाने में वे भी शायद गौरव समझते थे। पहिले तो लड़कियाँ कजली गा रहीं थीं। एकाएक एक छोटा बालक गा उठा—

"झंडा ऊंचा रहे हमारा"

फिर क्या था; सब बच्चे कजली-वजली तो गए भूल, और लगे चिल्लाने

"झंडा ऊंचा रहे हमारा"

[२]

इसकी खबर ठाकुर साहब के पास पहुँची। अमराई उन्हीं की थी। अभी तीन ही महीने पहिले वे राय साहेब हुए थे। आनरेरी मजस्ट्रेट तो थे ही, और थे सरकार के बड़े भारी खैरख्वाह। जब उन्होंने सुना कि अमराई तो असहयोगियों का अड्डा बन गई है; प्रायः इस प्रकार वहाँ रोज ही होता है तो वे बड़े घबराए, फौरन घोड़ा कसवा कर अमराई की ओर चल पड़े; किन्तु उनके पहुँचने के पहिले ही वहां पुलिस भी पहुँच चुकी थी। ठाकुर साहब को देखते ही दरोगा नियामत अली ने बिगड़ कर कहा—ठाकुर साहब! आप से तो हमें ऐसी उम्मीद न थी। मालूम होता है कि आप भी उन्हीं में से हैं। यह सब आप की ही तबियत से हो रहा है। लेकिन इससे अमन में खलल पड़ने का खतरा है। आप ५ मिनट के अन्दर ही यह सब मजमा यहाँ से हटवा दीजिये; वरना हमें मजबूर होकर लाठियाँ चलवानी पड़ेंगी।

ठाकुर साहब ने नम्रता से कहा—दरोगा जी जरा सब्र रखिए, मैं अभी यहाँ से सब को हटवाए देता हूँ। आपको लाठियाँ चलवाने की नौबत ही क्यों आएगी? नियामत

अली का पारा ११० पर तो था ही, बोले, फिर भी मैं आपको पहिले से आगाह कर देना चाहता हूँ कि ज्याद: से ज्याद: दस मिनट लगें; नहीं तो मुझे मजबूरन लाठियाँ चलवानी ही पड़ेंगी। ठाकुर साहब ने घोड़े से उतर कर अमराई में पैर रखा ही था कि उनका सात साल का नाती विजय हाथ में लकड़ी की तलवार लिए हुए आकर सामने खड़ा हो गया। ठाकुर साहब को सम्बोधन करके बोला—

दादा ! देखो मेरे पास भी तलवार है; मैं भी बहादुर बनूंगा।

इतने ही में उसकी बड़ी बहिन कान्ती, जिसकी उमर क़रीब नौ साल की थी, धानी रंग की साड़ी पहिने आकर ठाकुर साहब से बोली—दादा ! ये विजय लकड़ी की तलवार लेकर बड़े बहादुर बनने चले हैं। मैं तो दादा ! स्वराज का काम करूँगी और चर्खा चला-चला कर देश को आजाद कर दूंगी; फिर दादा बतलाओ, मैं बहादुर बनूंगी कि ये लकड़ी की तलवार वाले ?"

विजय की तलवार का पहिला वार कान्ती पर ही हुआ; उसने कान्ती की ओर गुस्से से देखते हुए कहा—

"देख लेना किसी दिन फांसी पर न लटक जाऊं तो कहना। लकड़ी की तलवार है तो क्या हुआ; मारा कि नहीं तुम्हें ?"

बच्चों की इन बातों में ठाकुर साहब क्षण भर के लिए अपने आपको भूल से गए। उधर १० मिनट से ११ होते ही दरोगा नियामत अली ने अपने जवानों को लाठियां चलाने का हुक्म दे ही तो दिया। देखते ही देखते अमराई में लाठियाँ बरसने लगी। आज अमराई में ठाकुर साहब के भी घर की स्त्रियाँ और बच्चे थे और गाँव के भी प्रायः सभी घरों की स्त्रियाँ बच्चे और युवक त्योहार मनाने आए थे। उनकी थालियाँ राखी, नारियल, केशर, रोली, चन्दन और फूल मालाओं से सजी हुई रखी थीं। किन्तु कुछ ही देर बाद वे थालियाँ, जिनमें रोली और चन्दन था, खून से भर गईं।

[३]

जब पुलिस मजमें को तितर-बितर करके चली गई तो देखा गया कि घायलों की संख्या करीब तीस के थी। जिनमें अधिकतर बच्चे, कुछ स्त्रियाँ और सात-आठ युवक

थे। विजय को सबसे ज्याद: चोट आई थी। चोट तो कान्ती को भी थी, किन्तु विजय से कम। ठाकुर साहब का तो परिवार का परिवार ही घायल था। घायलों को उनके घरों में पहुँचाया गया और अमराई में पुलिस का पहरा बैठ गया।

विजय की चोट गहरी थी, दशा बिगड़ती जा रही थी। जिस समय वह अपने जीवन की अन्तिम घड़ियाँ गिन रहा था उसी समय कोर्ट से ठाकुर साहब के लिए सम्मन आया। उन्हें कोर्ट में यह पूछने के लिए बुलाया गया था कि उनका आम का बगीचा असहयोगियों का अड्डा कैसे और किसके हुक्म से बनाया गया। ठाकुर साहब भी आनरेरी मजिस्ट्रेटी का इस्तीफ़ा, राय साहिबी का त्याग-पत्र जेब में लिए हुए कोर्ट पहुँचे। उनका बयान इस प्रकार था।

'मेरा बगीचा असहयोगियों का अड्डा कभी नहीं रहा है। क्योंकि मैं अभी तक सरकार का बड़ा भारी खैर-ख्वाह रहा हूं। मुझे सरकार की नीति पर विश्वास था; और अपने घर में बैठा हुआ मैं अखबारी दुनिया का विश्वास कम करता था। मुझे यक़ीन ही न आता था

कि न्याय की आड़ में सरकार निरीह बालक, स्त्रियों और पुरुषों पर कैसे लाठियाँ चलवा सकती है ? परन्तु आज तो सारा भेद मेरी आँखों के ही आगे विषैले अक्षरों में लिखा गया है। मेरा तो यह विश्वास हो गया है कि इस शासन-विधान में, जो प्रजा को हितकर नहीं हैं, अवश्य परिवर्तन होना चाहिए। हर एक हिन्दुस्तानी का धर्म है कि वह शासन-सुधार के काम में पूरा-पूरा सहयोग दे। मैं भी अपना धर्म पालन करने के लिए विवश हूं और यह मेरी राय साहिबी और आनरेरी मजिस्ट्रेटी का त्याग-पत्र है। ठाकुर साहब तुरंत कोर्ट से बाहर हो गए।

[४]

दूसरे ही दिन से उस अमराई में रोज ही कुछ आदमी राष्ट्रीय गाने गाते हुए गिरफ्तार होते। और साठ साल के बूढ़े ठाकुर साहब को, सरकार के इतने दिन की खैर-ख्वाही के पुरस्कार स्वरूप छै महीने की सख्त सजा और ५००) का जुरमाना हुआ। जुरमाने में उनकी अमराई नीलाम कर ली गई। जहाँ हर साल बरसात में बच्चे झूला झूलते थे वहीं पर पुलिस के जवानों के रहने के लिए पुलिस-चौकी बनने लगी।

अनुरोध

[१]

"कल रात को मैं जा रहा हूँ।"

"जी नहीं, अभी आप न जा सकेंगे" आग्रह, अनुरोध और आदेश के स्वर में वीणा ने कहा।

निरंजन के ओठों पर हल्की मुस्कुराहट खेल गई। फिर बिना कुछ कहे ही उन्होंने अपने जेब से एक पत्र निकाल कर वीणा के सामने फेंक दिया और शान्त स्वर में बोले—

"मुझे तो कोई आपत्ति नहीं; आप इस पत्र को पढ़ लीजिए। इसके बाद भी यदि आपकी यही धारणा रही

कि मैं न जाऊँ तो जब तक आप न कहेंगी मैं न जाऊँगा ”

वीणा ने सर हिलाते हुए कहा—“जी नहीं, रहने दीजिए; मैं कोई पत्र-वत्र न पढ़ूँगी और न आपको जाने ही दूँगी।”

हल्की मुस्कुराहट के साथ निरंजन ने पत्र उठा लिया और बोले—आप न पढ़ना चाहें तो भले ही न पढ़ें; पर...

उनकी बात को काटते हुए वीणा ने कहा—“अच्छा लाइये; ज़रा देखूँ तो सही, किसका पत्र है ? पत्र-लेखक मेरा कोई दुश्मन ही होगा जो इस प्रकार अनायास ही आपको मुझसे दूर खींच ले जाना चाहता है।”

निरंजन हँस पड़े; और हँसते हँसते बोले—“पत्र पढ़ लेने के बाद पत्र-लेखक को शायद आप अपना दुश्मन न समझ कर मित्र ही समझें।”

वीणा ने विरक्ति के भाव से कहा “जी नहीं, यह हो ही नहीं सकता; जो आपको मुझसे दूर खींच ले जाना चाहे, वह कोई भी हो, मैं तो उसे अपना दुश्मन ही कहूँगी।”

निरंजन ने कहा—“सच !! पर आप ऐसा क्यों सोचती हैं ?”

वीणा ने निरंजन की बात नहीं सुनी। वह तो पत्र पढ़ रही थी, जिसमें लिखा था—

मेरे प्राण......

एक महीना पहिले तुम्हारा पत्र आया था; तुमने लिखा था कि यहाँ का काम एक-दो दिन में निपटा कर रविवार तक घर अवश्य आ जाऊँगा। इसके बाद सोचो तो कितने रविवार निकल गए। रोज़ तुम्हारी रास्ता देखती हूँ। उधर से आने वाली हर एक ट्रेन के समय उत्सुकता से कान दरवाज़े पर ही लगे रहते हैं; ऐसा मालूम होता है कि अब तांगा आया! अब दरवाज़े पर रुका! और अब तुम मेरे प्राण!! आकर मुझे...........क्या कहूँ। मैं जानती हूँ कि तुम अपना समय कहीं व्यर्थ ही नष्ट न करते होओगे; किन्तु फिर भी जी नहीं मानता। यदि पंख होते तो उड़कर तुम्हारे पास पहुँच जाती। तुम कब तक आओगे? जीती हुई भी मरी से गई-बीती हूँ।

जब दो पक्षियों को भी एक साथ देखती हूँ तो हृदय में हूक-सी उठती है। क्या यह लिख सकोगे कि कब तक मुझे प्रतीक्षा करनी पड़ेगी? वैसे तुम्हारी इच्छा जब आना चाहो; पर मेरा तो जी यही कहता है कि पत्र के उत्तर में स्वयं ही चले आओ।

—तुम्हारी

पत्र पढ़ते-पढ़ते कई बार वीणा के चेहरे पर विषाद की एक झलक आई और चली गई। पढ़ने के पश्चात् पत्र को उसने चुपचाप निरंजन की ओर बढ़ा दिया। निरंजन ने पत्र लेकर जेब में रख लिया। कुछ क्षण तक दोनों चुपचाप बैठे रहे; फिर वही रोज का कार्यक्रम, उमर खैयाम की रुबाइयों का अनुवाद आरंभ हो गया। निरंजन शान्त और अविचल थे। किन्तु वीणा स्वस्थ न थी। आज वह रुबाइयों को न तो ठीक तरह से पढ़ ही सकती थी और न उनका अनुवाद ही कर सकती थी। निरंजन से वीणा की मानसिक अवस्था छिपी न रह सकी। उन्होंने कहा—"आज आप अनुवाद का काम रहने ही दें; कल हो जायगा। चलिए; थोड़ी देर ग्रामोफोन सुनें।"

बाजे में चाबी भर दी गई। रेकार्ड चढ़ा दिया गया। इन्दुबाला का गाना था "सजन तुम काहे को नेहा लगाए।" एक: दो: तीन, वीणा ने बार-बार इसी रेकार्ड को बजाया। तब तक वीणा के पति कुंजबिहारी आफ़िस से लौटे; बोले वीणा तुमसे कितनी बार कहा कि इतनी मेहनत मत किया करो; पर तुम नहीं मानतीं। जरा अपना चेहरा तो जाकर शीशे में देखो, कैसा हो रहा है।

वीणा कुछ न बोली। निरंजन ने कहा—"जी हां, यही बात तो मैं भी इन से कह रहा था कि आप इतनी मेहनत न करें। सब होता रहेगा।"

[२]

उस दिन निरंजन के जाने के बाद वीणा ने रात भर जाग कर सारी रुबाइयों का अनुवाद कर डाला। अब केवल एक बार देख लेने ही की आवश्यकता थी। निरंजन की पत्नी का पत्र पढ़ लेने के बाद वीणा अपने आप ही अपनी नजरों में गिरने लगी। उसे ऐसा मालूम होता था कि निरंजन के प्रति उसका प्रेम स्वार्थ से परिपूर्ण है; क्योंकि उसे उनका साथ अच्छा लगता है और इसीलिए वह उन्हें अपने दुराग्रह से रोके जा रही है। निरंजन की पत्नी की नम्रता एवं उसके शील और विश्वास के सामने वीणा अपनी दृष्टि में स्वयं ही बहुत हीन जँचने लगी।

निरंजन बहुत नम्र प्रकृति के पुरुष थे; और विशेष कर स्त्रियों के साथ वे और भी नम्रता से पेश आते। यही कारण था कि वे वीणा का आग्रह न टाल सके। कई बार जाने का निश्चय करके भी वे न जा सके; किन्तु आज वीणा ने सोचा कि अब मैं उन्हें कदापि न रोकूँगी; जाने

ही दूंगी। मैं जानती हूँ कि उनका जाना मुझे बहुत अखरेगा, परन्तु यह कहां का न्याय है कि मैं अपने स्वार्थ के लिए एक पति-पत्नी को अलग-अलग रहने के लिए बाध्य करूँ। न! अब यह न होगा; जो बीतेगी वह सहूँगी; पर उन्हें अब न रोकूँगी।

दूसरे दिन समय पर ही निरंजन आए। वीणा उन्हें ड्राइंग रूम में ही मिली। उन्हें देखते ही उठकर हँसती हुई बोली (यद्यपि उसकी वह हँसी ओंठों तक ही थी; उसकी अन्तरात्मा रो रही थी, उसे ऐसा जान पड़ता था कि निरंजन के जाते ही उसे उन्माद हो जायगा)—"कहिये निरंजन जी, आपने जाने की तैयारी करली?"

निरंजन ने नम्रता से कहा—"जी नहीं! मैं आज कहाँ जा रहा हूँ? मैं तो जब तक आपकी रुबाइयों का अनुवाद न हो जायगा, तब तक यहीं रहूँगा।"

वीणा बोली—"मेरी तो सब रुबाइयों का अनुवाद हो गया। आप देख लीजिए।"

आश्चर्य से निरंजन ने पूछा—"सच? मालूम होता है आपने रात को बहुत मेहनत की है।"

वीणा—"हां, मेहनत तो जरूर की है; किन्तु आपको

आज जाना भी तो है। अब आप इन्हें देख लीजिए; दो-तीन घंटे का काम है; बस।"

निरंजन मुस्कुराते हुए बोले—"क्यों, आप मुझसे नाराज़ हो गईं क्या? आप मुझे इतनी जल्दी क्यों भेजना चाहती हैं? मैं आराम के साथ चला जाऊंगा।"

वीणा ने निरंजन पर एक मार्मिक दृष्टि डालते हुए कहा—"निरंजन जी! मैं नाराज़ होऊँगी आपसे? क्या आपका हृदय इस पर विश्वास कर सकता है? मैं तो जानती हूँ कभी न करेगा; किन्तु जिस प्रकार आप इतने दिनों तक मेरे आग्रह से रुके रहे, उसी प्रकार मेरे अनुरोध से आप आज रात की गाड़ी से चले जाइए।"

निरंजन ने दृष्टि उठाकर एक बार वीणा की ओर देखा; फिर वह अनुवाद की हुई रुबाइयों को देखने लगे।

ग्रामीणा

[१]

पंडित रामधन तिवारी को परमात्मा ने सब कुछ दिया था; किन्तु सन्तान के विना उनका घर सूना था। धन-धान्य से भरा-पूरा घर उन्हें जंगल की तरह जान पड़ता। संतान की लालसा से उन्होंने न जाने कितने जप-तप और विधान करवाए; और अन्त में उनकी ढलती उमर में पुत्र तो नहीं, पर एक पुत्री का जन्म हुआ। इस समय तिवारी जी ने खूब खुले हाथों खर्च किया। सारे गाँव को प्रीति-भोज दिया। महीनों घर में ढोलक ठनकती रही। कन्या ही सही पर

इसके जन्म ने तिवारी जी के निष्पुत्र होने के कलंक को धो दिया था। कन्या का रंग गोरा चिट्टा, आँखें बड़ी-बड़ी; चौड़ा माथा और सुन्दर सी नासिका थी। उसके बाल घने, काले और असंख्य नन्हे-नन्हे छल्लों की भाँति सिर पर बड़े ही सुहावने लगते थे। उसका नाम रखा गया सोना। सोना का लालन-पालन बड़े लाड़-प्यार से होने लगा।

जब सोना सात साल की हुई तो घर ही में एक मास्टर लगा कर तिवारी जी ने सोना को हिन्दी पढ़वाना प्रारंभ किया; और थोड़े ही समय में सोना ने रामायण, महाभारत इत्यादि धार्मिक पुस्तकें पढ़ना सीख लिया। गाँव के सभी लोगों ने सोना की कुशाग्र बुद्धि की तारीफ की। इसके आगे, अधिक पढ़ाकर तिवारी जी को कन्या से कुछ नौकरी तो करवानी न थी; इसलिए सोना का पढ़ना बन्द करवा दिया गया।

अब सोना नौ साल की सुकुमार सुन्दर बालिका थी। उसकी सुन्दरता और सुकुमारता को देखकर गाँव वाले कहते—"तिवारी जी! तुम्हारी लड़की तो देहात के लायक नहीं है। इसका विवाह तो भाई! कहीं शहर में ही करना। सुनते हैं, शहर में बड़ा आराम रहता है।"

इधर तिवारी जी की बहिन जानकी, जिसका विवाह हुआ तो गाँव में ही था, किन्तु कुछ दिन से शहर में जाकर रहने लगी थी, जब कभी शहर से चौड़े किनार की सफ़ेद सारी, आधी बाँह का लेस लगा हुआ जाकेट, टिकली की जगह माथे पर लाल ईंगुर की बिन्दी और पैरों में काले-काले स्लीपर पहिन के आती, तो सारे गाँव की स्त्रियाँ उसे देखने के लिए दौड़ आतीं। गाँव के तरुण-जीवन में उसका आदर था और बूढ़ों की आँखों में वह खटकती थी; किन्तु फिर भी वह सब के लिए एक नई चीज़ थी; जानकी के पति नारायण ने भी मिल में नौकरी कर ली थी। उसे २०) माहवार मिलते थे। वह अब देहाती न था; सोलह आने, शहर का बाबू बन गया था। धोती की जगह ढीला पाजामा, कुरते की जगह कमीज़, वास्कट, और कोट पहिनता; पगड़ी की जगह काली टोपी और पैरों में पम्प शू पहिनता था। जब कभी गांव में जाता कान में इत्र का फाया ज़रूर रहता; कभी हिना; कभी खस की मस्त खुशबू से बेचारे देहाती हैरान हो जाते। उन्हें अपने जीवन से शहर का जीवन बड़ा ही सुखमय और शान्तिदायक मालूम होता।

[२]

इन सब बातों को देखकर और सोना की सुकुमारता को देखते हुए सोना की मां नन्दो ने निश्चय कर लिया था कि मैं अपनी सोना का विवाह शहर में ही करूंगी। मेरी सोना भी पैरों में पतले-पतले लच्छे और काले-काले स्लीपर पहिनेगी। चौड़े किनार की सफेद सारी और लेस लगा हुआ जाकेट पहिन कर वह कितनी सुन्दर लगेगी, इसकी कल्पना मात्र से ही नन्दो हर्ष से विह्वल हो जाती। किन्तु सोना को कुछ ज्ञान न था; वह तो अपने देहाती जीवन में ही मस्त थी। वह दिन भर मधुबाला की तरह स्वच्छन्द फिरा करती। कभी-कभी वह समय पर खाना खाने आ जाती और कभी-कभी तो खेल में खाना भी भूल जाती। सुन्दर चीजें इकट्ठी करने और उन्हें देखने का उसे व्यसन सा था। गांव में अपनी जोड़ की कोई लड़की उसे न मिलती; इसलिए किसी लड़की से उसका अधिक मेल-जोल न था। नन्दो को सोना की यह स्वच्छन्द-प्रियता पसन्द न थी। किन्तु वह सोना को दबा भी न सकती थी। वह जब कभी सोना को इसके लिए कुछ कहती तो बिवारी जी उसे आड़े हाथों लेते, कहते—"लड़की है, पराए घर तो उसे

जाना ही पड़ेगा; क्यों उसके पीछे पड़ी रहती हो? जितने दिन है, खेल-खा लेने दो। कुछ तुम्हारे घर जन्म-भर थोड़े बनी रहेगी।" लाचार नन्दो चुप हो जाती।

धीरे-धीरे सोना ने बारह वर्ष पूरे करके तेरहवें में पैर रखा। किन्तु तिवारी जी का इस तरफ़ ध्यान ही न था। एक दिन नन्दो ने उन्हें छेड़ा—"सोना के विवाह की भी कुछ फिकर है?"

तिवारी जी चौंक-से उठे, बोले—सोना का विवाह? अभी वह है कै साल की?

किन्तु यह कितने दिनों तक चल सकता था। लड़की का विवाह तो करना ही पड़ता। वैसे तो गाँव में ही कई ऐसे लड़के थे जिनसे सोना का विवाह हो सकता था। किन्तु नन्दो और तिवारी जी दोनों ही सोना का विवाह शहर में करना चाहते थे। शहर के जीवन का सुनहला सपना रह-रह के उनकी आँखों में छा जाता था। उन्होंने जानकी और नारायण से शहर में कोई योग्य वर तलाश करने के लिए कहा।

इधर सोना बारह साल की हो जाने पर भी निरी बालिका ही थी, अब भी। वही राजा-रानी का खेल खेला

जाता। सुन्दर फूल-पत्तियाँ अब भी इकट्ठी की जातीं और तितलियों के पीछे अब भी उसी प्रकार दौड़ लगती। सोना के अंग-प्रत्यंग में धीरे-धीरे यौवन का प्रवेश प्रारम्भ हो चुका था; किन्तु सोना को इसका ज्ञान न था। उसके स्वभाव में अब भी वही लापरवाही, वही अल्हड़पन और भोलापन था जो आठ साल की बालिका के स्वभाव में मिलेगा।

[३]

सोना का विवाह तै हो गया। वर की आयु २२ या २३ साल की थी। वह सुन्दर, स्वस्थ और चरित्रवान नवयुवक थे। एक प्रेस में नौकरी करते थे; ७५) माहवार तनख्वाह पाते थे। घर में एक बूढ़ी मां को छोड़कर और कोई न था। बिहार के रहने वाले थे। कुछ ही दिनों से यू० पी० में आए थे। परदा के बड़े पक्षपाती और पुरानी रूढ़ियों के कायल थे। नाम था विश्व मोहन। जब शिवारी जी ने विश्व मोहन और उनके घर को देखा तो उनकी खुशी का ठिकाना न रहा। विश्वमोहन, बाबू क्या, पूरे साहब देख पड़ते थे। उनके घर में खिड़की और दरवाजों पर चिकें पड़ी हुई थीं। जमीन पर एक

बड़ी दरी पड़ी थी जिसके बीच में एक गोल मेज़ थी। मेज़ के आसपास कई कुर्सियां पड़ी थीं। जब विश्व-मोहन ने तिवारी जी से चाय पीने का आग्रह किया और तिवारी जी को उनके आग्रह से चाय पीनी ही पड़ी तो वहां का साज-सामान देखकर तिवारी जी चकित हो गये। हर्ष से उनकी आंखें चमक उठीं। सुन्दर-सुन्दर प्यालों में मेज़ पर चाय पीने का तिवारी जी के जीवन में पहिला ही अवसर था। चाय पीने के बाद तिवारी जी ने दो गिन्नी बरीक्षा में देकर शादी पक्की कर ली। रास्ते में नारायण बोला—कहो तिवारी जी, है न लड़का हजारों में एक ? है कोई तुम्हारे गांव में ऐसा ? जब कपड़े पहिन कर हैट लगा कर निकलता है तब कोई नहीं कह सकता कि साहब नहीं हैं। सब लोग झुक के सलाम करते हैं। घर में देखा ? कितना परदा है। सब खिड़की-दरवाज़ों पर चिकें पड़ी हैं। इनकी मां बूढ़ी हो गई हैं। पर क्या मजाल कि कोई परछांई भी देख ले। दोनों समय चाय पीते हैं; कुर्सियों पर बैठते हैं।

तिवारी जी ने हर्षोन्मत्त होकर कहा—भाई नारायण, हम तुम्हारे इस उपकार के सदा आभारी रहेंगे। हमारे ढूंढ़े तो ऐसा घर-वर कभी न मिलता। हम देहात के

रहने वाले शहर का हाल-चाल क्या जाने? पर तुमने मेरी सोना को अपनी लड़की सरीखी समझ कर जो उसके लिए इतनी दौड़-धूप की है और ऐसा अच्छा जोड़ मिला दिया है, इस उपकार का फल तुम्हें ईश्वर देगा।

नारायण—अच्छा तिवारी जी अब जाकर विवाह की तैयारी करो। देखना इन्हें खाने-पीने का कुछ कष्ट न होने पावे। शहर के आदमी हैं; सब तकलीफें सह लेंगे, पर भूख नहीं सह सकेंगे। खाते भी अच्छा हैं; देहात की मिठाई उन्हें अच्छी न लगेगी; कोई शहर का ही हलवाई ले जाकर मिठाई बनवा लेना, समझे।

तिवारी जी ख़ुशी-ख़ुशी घर लौटे। घर आकर जब उन्होंने नन्दो के सामने वर के रूप और गुण का बखान किया तो नन्दो फूली न समाई। वह जैसा घर-वर सोना के लिए चाहती थी, ईश्वर ने उसकी साध पूरी कर दी। इस कृपा के लिए उसने परमात्मा को शतशः धन्यवाद दिए और नारायण को उसने कोटि-कोटि मन से आशीर्वाद दिया, जिसने इतनी दौड़-धूप करके मन-चाहा घर और वर सोना के लिए खोज दिया था।

सोना ने जब सुना कि उसका विवाह हो रहा है तब वह दौड़ कर आई; उसने माँ से पूछा—

"मां! विवाह कैसा होता है और क्यों होता है"?

मां के सामने यह बड़ा जटिल प्रश्न था; वह समझ ही न सकी कि इसका क्या उत्तर दे; किन्तु चतुर जानकी ने तुरंत बात बना ली; बोली—"सोना! विवाह हो जाने पर अच्छे-अच्छे गहने-कपड़े मिलते हैं। इसीलिए विवाह होता है।

सोना—बुआ जी फिर क्या होता है?

जानकी—फिर सास के घर जाना पड़ता है; सो मैं तुझे अपने साथ ले चलूँगी।

—"सो तो मैं पहिले ही से जानती थी बुआ जी, कि विवाह करने पर सास के घर जाना पड़ता है। पर मैं न कहीं जाऊँगी; अभी से कहे देती हूँ; विवाह करो चाहे न करो", कहती हुई सोना खेलने चली गई। नन्दो का मातृप्रेम आँखों में आँसू बन कर उमड़ आया; बोली—"अभी बचपना है; बड़ी होगी तब सब समझेगी।"

जानकी—"फिर तो ससुराल से एक—दो दिन के लिए भी मायके आना कठिन हो जायगा भौजी! देखो न मैं ही चार-छै दिन के लिए आती हूँ तो रात-दिन वहीं

की फिकर लगी रहती है। जहाँ गृहस्थी का झंझट सिर पर पड़ा सब खेलना-कूदना भूल जाता है। जब तक विवाह नहीं होता तभी तक का खेलना-खाना समझो।

नन्दो—"जानकी दीदी! तुम लोगों की कृपा से मेरी सोना सुखी रहे। जैसे उसका नाम सोना है। उसके जीवन में सोना ही बरसता रहे।

[४]

सोना का विवाह हो गया। रामधन तिवारी की लड़की का विवाह गांव भर में एक नई बात थी। इस विवाह में मंगलामुखी के स्थान पर आगरे से भजन-मंडली आई थी जो उपदेश के अच्छे-अच्छे भजन गा के सुनाया करती थी। गहने-कपड़े सब नए फ़ैशन के थे। लहंगों का स्थान साड़ियों ने ले लिया था। जूते थे, मोज़े थे, रूमाल थे, पाउडर की डिब्बी, सुगंधित तेल और भी न जाने क्या-क्या था; जिनकी नन्दो और जानकी ने कभी कल्पना तक न की थी। गांव की औरतों को नन्दो बड़ी खुशी-खुशी सब चीज़ें दिखाया करती। देखनेवाली सोना के सौभाग्य की सराहना करती हुई लौट जातीं।

उनकी आंखों में आज सोना से अधिक सौभाग्यवती कोई न थी। जिस दिन सोना को ससुराल के सब गहने-कपड़े पहिनाकर नन्दो ने पुत्री का सौंदर्य निहारा तो उसका रोम-रोम पुलकित हो उठा। किसी की नज़र न लग जाय, इस डर से उसने छिपाकर बालों के नीचे एक काजल का टीका लगा दिया। जिसने सोना को देखा, वही क्षण भर तक उसे देखता रहा। सोना सचमुच में सोना ही थी।

विदा का समय आया। मां-बेटी खूब रोईं। जब सोना तिवारी जी की कमर से लिपट कर रोने लगी तो तिवारी जी का भी धैर्य जाता रहा; वे भी जोर से रो पड़े। सोना की विदा हो गई। विदा के बाद तिवारी जी को पुत्री के बिछोह का दुःख भी था; साथ ही साथ आत्मसंतोष भी कि पुत्री अच्छे घर ब्याही गई है; सुख में रहेगी।

सोना ससुराल पहुँची; रास्ते भर तो जैसे-तैसे; किन्तु घर पहुँचने पर जब वह एक कोठरी में बंद कर दी गई, और बाहर की साफ़ हवा उसे दुर्लभ हो गई। तो उसे ससुराल का जीवन बड़ा ही कष्टमय मालूम हुआ। अब उसे गहने-कपड़े न सुहाते थे। रह-रह कर कोठरी से बाहर

निकलकर साफ़ हवा में आने के लिए उसका जी तड़पने लगा। स्वछन्द हवा में विचरने वाली बुलबुल की जो दशा पिंजरे में बंद होने के बाद होती है, वही दशा सोना की थी। चार ही छै दिन में उसके गुलाबी गाल पीले पड़ गये; आंखें भारी रहने लगीं। एक दिन विश्वमोहन आफ़िस चले गये थे; सास सो रही थीं; सोना आंगन के बाहर के दरवाज़े के पास चली आई। चिक को ज़रा हटा कर बाहर देखा। यहां देहात की सुन्दरता तो न थी; फिर भी साफ़ हवा अवश्य थी। इतने दिनों के बाद क्षण भर के ही लिए क्यों न हो बाहर की हवा लगते ही सोना का चित्त प्रफुल्लित हो गया। किन्तु उसी समय एक बुढ़िया इधर से निकली। सोना को उसने चिक के पास देख लिया। आकर विश्वमोहन की मां से उसने कहा—"बहू को ज़रा सम्हाल के रखा करो। न साल, न छै महीने अभी से खड़ी हो के बाहर झांकती है। यह लच्छन कुलीन घर की बहू बेटियों को शोभा नहीं देते। बिस्सू की अम्मा! तुम्हारी इतनी उमर हो गई, आज तक किसी ने परछाईं तक न देखी और तुम्हारी ही बहू के ये लच्छन! कलजुग इसी को कहते हैं।" बुढ़िया तो उपदेश देकर चली गई, पर सोना को उस दिन बड़ी डांट पड़ी।

उसको समझ में ही न आता था कि चिक के पास जाकर उसने कौन-सा अपराध कर डाला। फिर भी बेचारी ने नतमस्तक सभी झिड़कियाँ सहलीं। और दूसरा चारा ही क्या था? इसी बीच जब तिवारी जी सोना को लेने आए तो उसे ऐसा जान पड़ा जैसे किसी ने डूबते से उबार लिया हो। पिता को देखकर वह बड़ी खुश हुई। उसने मन ही मन प्रतिज्ञा की कि अब के जाऊँगी तो फिर यहाँ कभी न आऊँगी।

[५]

लेकिन शहरवाले बहू को मायके में ज्याद: रहने ही कब देते हैं? सोना को मायके आए अभी १५ दिन भी न हुए थे कि विश्वमोहन सोना को लेने के लिए आ गए। वे जब आ रहे थे, सोना उन्हें रास्ते में ही बिही के पेड़ पर चढ़ी हुई मिली। उसके साथ और भी बहुत से लड़के-लड़किया थीं। सोना का सर खुला था और वह बिही तोड़-तोड़ कर खा रही थी, और अपनी जूठी बिही खींच-खींच कर मारती भी जा रही थी और ऊपर बैठी-बैठी हंस रही थी। सोना को विश्वमोहन ने देखा; किन्तु सोना उन्हें न देख सकी। पत्नी की चाल-

ढाल विश्वमोहन को न सुहाई, उनकी आंखों में खून उतर आया; पर वे चुपचाप अपने क्रोध को पी गए। किन्तु उसी समय उन्होंने मन ही मन प्रतिज्ञा की कि अब वे सोना को मायके कभी न भेजेंगे। वे जाकर चौपाल में मोढ़े पर बैठे ही थे कि अपने बालसखा और सहेलियों के साथ सोना भी पहुँची। विश्वमोहन को देखते ही उसने हाथ की चिट्ठी फेंक दी और सिर ढंक कर अन्दर भाग गई। फिर ससुराल जाना पड़ेगा, इस भावना मात्र से ही उसका हृदय व्याकुल हो उठा।

सोना फिर ससुराल आई। अबकी बार आने के साथ ही घर का सारा भार सोना को सौंप कर सोना की सास ने घर-गृहस्थी से छुट्टी ले ली। कभी घर का काम करने का अभ्यास न होने के कारण सोना को घर के काम करने में बड़ी दिक़्क़त होती, इसके लिए उसे रोज़ सास की झिड़कियां सहनी पड़तीं। सोना ने तो खेलना, खाना, और तितली की तरह उड़ना ही सीखा था। गृहस्थी की गाड़ी में उसे भी कभी जुतना पड़ेगा यह तो उसने कभी सोचा ही न था। किन्तु यह कठिनता महीने पन्द्रह दिन की ही थी। अभ्यास हो जाने पर फिर सोना को काम करने में कुछ कठिनाई न पड़ती।

घर में रात दिन बंद रहने की उसकी आदत न थी। बाहर जाने के लिए उसका जी सदा व्याकुल रहता। यदि कभी खिलौने वालों की आवाज़ सुनती या "चनाजोर गरम" की आवाज़ उसके कान में पड़ती तब वह तड़प-सी जाती। अपना यह कैदखाने का जीवन उसे बड़ा ही कष्ट-कर मालूम पड़ता। किन्तु सोना बहुत दिनों तक अपने को न रोक सकी। वह सास और पति की आंख बचा कर गृह-कार्य के पश्चात् कभी खिड़की, कभी दरवाज़े के पास, जब जैसा मौका मिलता जाकर खड़ी हो जाती; बाहर का दृश्य, हरे-हरे पेड़ और पत्तियां देखकर उसे कुछ शान्ति मिलती। बाहर ठंडी हवा को स्पर्श करके उसमें जैसे कुछ जीवन आ जाता। वह जानती थी कि खिड़की, या दरवाज़े के पास वह कभी किसी बुरे उद्देश्य से नहीं जाती, फिर भी पति नाराज़ होंगे, सास झिड़कियां लगावेंगी; इसलिए वह सदा उनकी नज़र बचा कर ही यह काम करती। मुहल्ले वालों को यह बात सहन न हुई। कल की आई हुई बहू, बड़े घर की बहू, सदा खिड़की-दरवाज़ों से लगी रहे। अवश्य ही यह आचरण-भ्रष्ट है। धीरे-धीरे आस-पास के लोगों में सोना के आचरण की चर्चा होने लगी। पुराने विचार वाले,

पर्दा के पक्षिपातियों को सोना की हरएक हरक़त में बुराई छोड़ भलाई नज़र ही न आती थी। मुहल्ले के बिगड़े दिल शोहदे, सोना के दरवाज़े पर से दिन में कई बार चक्कर लगाते और आवाज़ें कसते।

किन्तु न तो सोना का इस तरफ ध्यान होता और न उसे इसकी कुछ परवाह थी। वह तो प्रकृति की पुजारिन थी। खिड़की-दरवाज़ों के पास वह प्रकृति की शोभा देखती थी; लोगों की बातों की ओर तो उसका ध्यान भी न जाता था।

इसी बीच में, किसी काम से सोना की सास को कुछ दिन के लिए गाँव पर जाना पड़ा। अब पति के आफिस जाने के बाद से उसे पूरी स्वतंत्रता थी। उनके आफिस जाने के बाद वह स्वच्छन्द हिरनी की तरह फिरा करती थी। कोई रोक-टोक करने वाला तो था ही नहीं; अब कभी-कभी वह चिक के बाहर भी चली जाया करती। आस-पास की कई औरतों से जान-पहिचान भी हो गई। वे लोग सोना के घर आने-जाने लगीं। सोना भी कभी-कभी लुक-छिप के दोपहर के सन्नाटे में उनके घर हो आती। सोना के बारे में, उसके आचरण के विषय में

लोग क्या बकते हैं, सोना न जानती थी। वह तो उन्हें अपना हितैषी और मित्र समझती थी। वही लोग, जो सोना से घुल-मिलकर घंटों बातचीत किया करते, बाहर जाकर न जाने क्या-क्या बकते। धीरे-धीरे इसकी चर्चा विश्वमोहन के भी कानों तक पहुँची। इन सब बातों को रोकने के लिए उन्होंने अपनी माँ की उपस्थिति आवश्यक समझी। इसलिए माँ को बुलवा भेजा। साथ ही सोना को भी समझा दिया कि वह बहुत सम्हल कर रहा करे। सासके आने पर सोना के ऊपर फिर से पहरा बैठ गया; किन्तु वह तो गाँव की लड़की थी; साफ हवा में विचर चुकी थी। उसके लिए सख्त परदे में, बिलकुल बन्द होकर रहना बड़ा कठिन था। इसलिए उसका जीवन बड़ा दुखी था। उससे घर के भीतर बैठा ही न जाता था। ज़रा मौका पाते ही बाहर साफ़ हवा में जाने के लिए उसका जी मचल उठता; और वह अपने आप को रोक न सकती। विश्वमोहन ने एकान्त में उसे कई बार समझाया कि सोना के इस आचरण से उनकी बहुत बदनामी हो रही है; इसलिए वह खिड़की-दरवाजों के पास न जाया करे; बाहर न निकला करे। एक दो दिन तक तो सोना को उनकी बातें याद रहतीं; किन्तु वह फिर भूल

जाती और वही हाल फिर हो जाता। फिर खिड़की-दरवाज़ों के पास जाती; फिर बाहर की साफ़ हवा में जाने के लिए, प्रकृति के सुन्दर दृश्यों को देखने के लिए उसकी आँखें मचल उठतीं।

एक दिन विश्वमोहन को किसी काम से शहर के बाहर जाना था। सोना ने पति का सामान ठीक कर उन्हें स्टेशन रवाना किया। सास खाना खा चुकने के बाद लेट गईं। सोना ने अपनी गृहस्थी के काम-धंधे समाप्त करके, कंघी चोटी की; कपड़े बदले; पान बना के खाया; फिर एक पुस्तक लेकर पढ़ने के लिए खाट पर लेट गई। पुस्तक कई बार की पढ़ी हुई थी; दो चार पेज उलट-पलट कर देखे; जी न लगा। उसी समय ठेले वाले ने आवाज़ दी "दो पैसे वाला", "दो पैसे वाला", सब चीजें दो-दो पैसे में लो।" किताब फेंक कर सोना दरवाज़े की तरफ़ दौड़ी; ठेले वाला दूर निकल गया था; दूर तक नज़र दौड़ाई; कहीं भी न देख पड़ा; निरास होकर लौटने ही वाली थी कि पड़ोस ही में रहने वाला बनिए का लड़का फैज़ू दौड़ा हुआ आया बोला—भौजी! सुई-तागा हो तो ज़रा मेरे कुर्ते में बटन टाँक दो; मैं कुश्ती देखने जाता हूँ।

सोना ने पूछा—कुश्ती देखने जाते हो कि लड़ने?

फैजू ने मुस्कुरा कर कहा—दोनों काम करने भौजी! पर पहिले बटनें तो टाँक दो; नहीं तो देरी हो जायगी।

सोना सुई-तागा लाकर बटन टाँकने लगी। फैजू वहीं फ़र्श पर सोना से ज़रा दूर हटकर बैठ गया।

[६]

गाड़ी तीन घंटे लेट थी। विश्वमोहन ने सोचा यहाँ बैठे-बैठे क्या करेंगे? चलें जब तक घर में ही बैठकर आराम करेंगे। सामान स्टेशन पर ही छोड़कर, स्टेशन मास्टर की साइकिल लेकर विश्वमोहन घर पहुँचे। बैठक में फैजू को सोना के पास बैठा देखकर उनके बदन में आग-सी लग गई। वे क्षण भर वहीं खड़े रहे। परन्तु इस दृश्य को वे गवारा न कर सके। अपने गुस्से को चुपचाप पीकर अन्दर आए; माता के पास बैठ गए। सोना से पति की नाराज़ी छिपी न रही। ज्यों-त्यों किसी प्रकार बटन टाँक कर कुरता फ़ैजू को देकर वह अन्दर आई। सोना ने स्वप्न में भी न सोचा था कि यह ज़रा-सी बात यहां तक बढ़ जायगी। पति का चेहरा देख कर वह सहम-सी गई। उनकी त्योरियाँ चढ़ी हुईं, चेहरा स्याह, और आँखें कुछ गीली थीं। सोना अन्दर आई।

विश्व मोहन ने उसकी तरफ़ आँख उठाकर भी न देखा। उसने डरते-डरते पति से पूछा—कैसे लौट आए ?

विश्वमोहन ने रुखाई से दो शब्दों में उत्तर दिया—गाड़ी लेट है।

सोना ने फिर छेड़ा—अब कब जाओगे।

विश्वमोहन के एक तीव्र दृष्टि पत्नी पर डाली और कठोर स्वर में बोले—गाड़ी तीन घंटे बाद जायगी; तब चला जाऊँगा।

सोना फिर नम्रता से बोली—तो इस प्रकार बैठे कब तक रहोगे ? मैं खाट बिछाए देती हूँ; आराम से लेट जाओ।

"तुम्हें कष्ट करने की आवश्यकता नहीं; मैं बहुत अच्छी तरह हूँ" विश्वमोहन ने कड़े स्वर में रुखाई से कहा। सोना के बहुत आग्रह करने पर विश्वमोहन ने कमरे में पैर रखा; न वे कुछ बोले और न खाट पर ही लेटे; कुर्सी पर बैठ गए। एक पुस्तक उठाकर उसके पन्ने उलटने लगे। पढ़ने के नाम से कदाचित् एक अक्षर भी न पढ़ सके हों; किन्तु इस प्रकार वे अपनी अन्तर वेदना को चुपचाप लहू की घूँट की तरह पी रहे थे। सोना का आचरण उन्हें हज़ार-

हज़ार बिच्छुओं के दंशन की तरह पीड़ा पहुँचा रहा था। पति की आंतरिक वेदना सोना से छिपी न थी। वह ज़रा खिसक कर उनके पास बैठ गई। धीरे से उसने अपना सिर विश्वमोहन के पैरों पर धर दिया, बोली—

"इस बार मुझे माफ़ करो; अब तुम जो कुछ कहोगे मैं वही करूँगी; मुझ से नाराज़ न होओ।"

विश्वमोहन के पैरों पर जैसे किसी ने जलती हुई आग धर दी हो; जल्दी से उन्होंने अपने पैर समेट लिए और तिरस्कार के स्वर से बोले—यह बात आज क्या तुम पहिली ही बार कह रही हो? यह मौखिक प्रतिज्ञा है हार्दिक नहीं। मैं सब जानता हूं। तुम्हारे कारण तो मैं शहर में सिर उठाने लायक नहीं रहा। जिधर जाओ। उधर ही लोग तुम्हारी चर्चा करते हुए देख पड़ते हैं। मेरे तुम्हारे मुँह पर कोई कुछ नहीं कहता तो क्या हुआ? बाद में तो कानाफूसी करते हैं। तुम्हारे ऊपर तो जैसे इसका कुछ असर ही नहीं पड़ता। जो जी में आता है, करती हो। भला, वह शोहदा तुम्हारे पास बटन टँकवाने क्यों आया? क्या तुम इन्कार न कर सकती थीं? तुम यदि शह न दो तो कैसे कोई तुम्हारे पास आवे।"

सोना ने भय-कातर दृष्टि से पति की ओर देखते हुए कहा—ज़रा सा तो काम था। पड़ोसी-धर्म के नाते, मैंने सोचा कि कर ही देना चाहिये। नहीं तो इन्कार क्यों नहीं कर सकती थी ?

"इसी प्रकार ज़रा-ज़रा सी बातों से बड़ी-बड़ी बातें भी हो जाया करती हैं। निभाया करो पड़ोसी-धर्म; मेरी इज्जत का ख्याल मत करना," कहते हुए विश्वमोहन बाहर चले गए। साइकिल उठाई और स्टेशन चल दिए।

आहत-अपमान से सोना तड़प उठी। वह कटे हुए वृक्ष की भाँति खाट पर गिर पड़ी और खूब रोई। रो लेने के बाद उसका जी कुछ हल्का हुआ। उसे अपने गाँव का स्वच्छन्द जीवन याद आने लगा। देहाती जीवन की सुखद स्मृतियाँ एक-एक करके सुकवि की सुन्दर कल्पना की भाँति उसके दिमाग में आने लगीं। उसे याद आया किस प्रकार जाड़े के दिनों में अलाव के पास न जाने कितनी रात तक, बूढ़े, जवान, युवतियाँ और बच्चे सब एक साथ बैठकर आग तापते हुए पहेलियाँ बुझाते और कितने कहानियाँ कहा करते थे। किसी के साथ किसी प्रकार का बन्धन न था। नदी पर गाँव भर की बहू-बेटियाँ कैसे स्नान करने को जाती थीं; और फिर सब एक साथ गाती

। मतिराम, विद्युत्मय जीवन था वह । चने के जीवन का ...म चने की भाजी तोड़ कर सब एक साथ ही से प्रकार खाया करते थे; और कभी-कभी छीना-झपटी भी हो जाया करती थी । हँसी-मजाक भी खूब होता था; किन्तु वहाँ किसी को कुछ शिकायत न थी । अपने पड़ोसी कुंदन के लिए वह माँ से लड़-भिड़ कर भी मिठाई ले जाया करती थी । नदी पर नहाने के बाद कभी-कभी कुंदन उसकी धोती भी तो धो दिया करता था; किन्तु वहाँ तो इसकी कभी चर्चा भी नहीं हुई । क्रोशिये से एक सुन्दर सा पोत का बटुआ बना कर सबके सामने ही तो उसने कुंदन को दिया था। जो अब तक उसके पास रखा होगा; पर वहाँ तो इस पर किसी को भी बुरा न लगा था। वहाँ सब लोगों को सब से बोलने, बात करने की स्वतंत्रता थी। कुंदन की भाभी नई-ही-नई तो विवाह के आई थी, पर हम लोगों के साथ ही रोज नदी नहाने जाया करती थी; और साथ बैठकर झूला भी झूला करती थी; अलाव के पास भी बैठा करती थी। फिर मैंने कौन सा ऐसा पाप कर डाला, जिसके कारण इन्हें शहर में सर उठाने की जगह नहीं रही । यदि किसी का कुछ काम कर देना, बोलना, या बातचीत करना ही पाप है, तो कदाचित यह

पाप जाने अनजाने मुझ... ...की ओर देखते हुए कारण उन्हें पद-पद पर लांछित होना प... ...जाते, मैंने जीवन का मूल्य ही क्या है ? ऐसे जीवन से तो म... ...हीं अच्छा है। मैं घर के अन्दर परदे में नहीं बैठ सकती, यही तो मेरा अपराध है न ? इसी के कारण तो लोग मेरे आचरण तक में धब्बे लगाते हैं ? मैं लोगों से अच्छी तरह बोलती हूँ, प्रेम का व्यवहार रखती हूँ; यही तो मुझमें बुराई है न ? आज उन्हें मुझ पर क्रोध आया; उन्होंने तिरस्कार के साथ मुझे झिड़क दिया। इसमें उनका कोई क़सूर नहीं है। पत्थर के पाट पर भी रस्सी के रोज़-रोज के घिसने से निशान पड़ ही जाते हैं; फिर वे तो देव तुल्य पुरुष हैं। उनका हृदय तो कोमल है, इन अपवादों का असर कैसे न पड़ता ? रामचन्द्र जी सरीखे महापुरुष ने भी तो ज़रा सी ही बात पर गर्भवती सीता को वनवास दे दिया था; फिर ये तो साधारण मनुष्य ही हैं। इन्होंने तो जो कुछ कहा, ठीक ही कहा। पर इसमें मेरा भी कौन सा दोष है ? किन्तु जब उन्हीं के हृदय में सन्देह ने घर कर लिया तो मैं तो जीती हुई भी मरी से गई बीती हूँ। इसी प्रकार अनेक तरह के संकल्प-विकल्प सोना के मस्तिष्क में आए और चले गए।

रसमग्न होकर देखते थे, उसी चाव से वे लोग इस काल की शृङ्गारिक
। रस विभोर होकर सुनते थे। यद्यपि समस्त काव्य की प्रसार भूमि
इस काल में नारी के साढ़े तीन हाथ के शरीर में ही समाहित हो गई
। काल के कवियों ने नारी सौन्दर्य एवं उसकी आकर्षक भाव-भंगिमाओं
न्त अभिव्यक्ति प्रस्तुत की उसमें ऐसा शाश्वत आकर्षण था कि सहृदय
सकी उपेक्षा न कर सके। मतिराम, बिहारी देव, घनानन्द तथा पद्माकर
रचनाओं में जीवन का यही शाश्वत सत्य मुखरित हुआ था जिसके कारण
ाएँ उसी चाव से पढ़ी अथवा सुनी जाती थीं, जिस चाव से लोग ताजमहल
ी कला-सृष्टि को देखते थे। उस काल की कलात्मक इमारतों के प्रति लोगों
जैसे आज भी बना हुआ है, उसी प्रकार उस काल में रचे गए सरस एवं
की लोकप्रियता भी अक्षुण्ण है। इन रचनाओं का प्रमुख आकर्षण केन्द्र
सरस एवं सुकुमार शृङ्गारिक भावनाएँ हैं न कि अलंकार एवं छन्दगत
र। सम्पूर्ण काव्य की आत्मा कृष्णमय है, भूषण जैसे एकाध कवि भले ही
तियों को चुनौती देते हुए खड़े दिखलाई पड़ जायँ। वीरकाल के प्रणेता
ने को शृङ्गारिक भावनाओं से मुक्त नहीं रख सके हैं। अलंकार वर्णन,
 भेद का चित्रण यद्यपि प्रभूत मात्रा में इस काल में मिलता है, पर
सुसम्बन्ध व्यवस्थित रूप नहीं बन पाया। आचार्य कवि केशव की प्रेरणा
यों को इस काल के कवियों ने आधार अवश्य बनाया पर किसी एक
पाटी का अनुसरण इन लोगों ने नहीं किया। किसी कवि ने केवल लक्षण
ी ने केवल उदाहरण प्रस्तुत किए। अधिकांश कवि ऐसे हैं जिन्होंने न
और न तो उदाहरण ही प्रस्तुत किए। बिहारी जैसे एकाध कवि ऐसे भी
जिनकी रचनाओं को लक्षण लिखकर उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया
। इससे स्पष्ट है कि किसी एक शास्त्रीय व्यवस्था का निर्वाह इस काल
में नहीं हुआ है, पर शृङ्गार भावना नामक एक ऐसा तत्व है जो सभी
उनकी कविताओं में समान रूप से पाया जाता है। ऐसी स्थिति में यदि
र्य के इस उत्तर मध्यकाल को किसी नाम से सम्बोधित किया जा सकता
शृङ्गार काल' ही हो सकता है। इस नाम से इस काल की समस्त रचनाओं
ता है और इसके अन्तर्गत यदि हम चाहें तो सुविधा के लिए इस काल
'रीतिबद्ध' रीतिसिद्ध और 'रीतिमुक्त' नामक उपशीर्षकों में विभक्त